Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारिका

टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : २५; अंक : ३९३; १६-३० नवंबर, १९८५

संपादक
अवधनारायण मुद्गल
उप-संपादक
रमेश बत्तरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
धीरेंद्र जैन
सज्जा
सुनीता

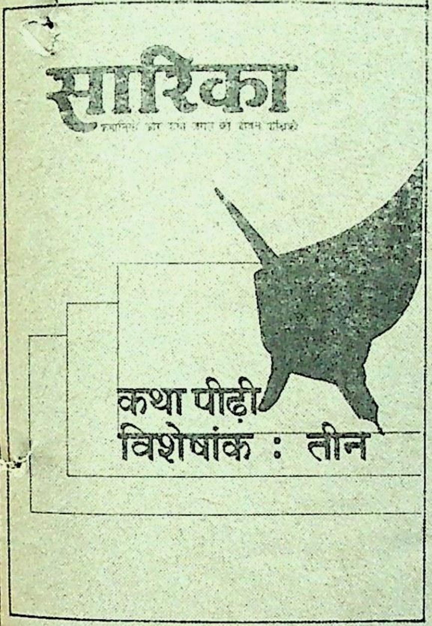

आवरण : आनंद

कथा-पीढ़ी विशेषांक: तीन

कहानियां

10. बाद अभी बाकी है : ममता कालिया
15. किला : विजयमोहन सिंह
18. चीख : गिरिराज किशोर
24. इस वक्त भालेराव : रमेशचंद्र शाह
27. घटनासूत्र : से. रा. यात्री
31. सारी रात : कामतानाथ
35. अनसुनी चीख : नीलकांत
39. ढहता कुतुबमीनार : मेहरुन्निसा परवेज
42. पहचान : नरेंद्र कोहली
47. सफाइयां : रमेश उपाध्याय
55. जन्म लेता हुआ डर : मधुकर सिंह
58. भागमती आयेगी : रमाकांत
61. पैमेरियन : धर्मेंद्र गुप्त
66. ब्लैकहोल : योगेश गुप्त
70. मुक्ति युद्ध : रॉबिन शॉ पुष्प

विशिष्ट आयोजन

72. समकालीन हिंदी कहानी का तीसरा पड़ाव : डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

लघु रचनाएं

14. शेष विश्व और हमारा साहित्य : शिवप्रसाद सिंह
23. शिकंजा : लक्ष्मीनारायण वशिष्ठ
28. अपनी कहानियों के बारे में : ज्ञानरंजन
30. ये कवि की कहानियां : डॉ. नामवर सिंह
32. कहानी बनाम आलोचक : राही मासूम रजा
34. प्रचार भावना : पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
50. खुशनसीब : रतीलाल शाहीन
51. निर्दोष कहानी : चंद्रगुप्त विद्यालंकार
53. रवींद्रनाथ की कहानियां : इलाचंद्र जोशी
54. जीवन पर सही रचना : भीष्म साहनी

स्थायी स्तंभ

8. आपकी बात
9. अपनी बात

संपादकीय पता: सारिका, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपकी बात

युद्ध कथा अंक

आदमी के भीतर का आतंक

युद्ध-कथा अंक मानव महाविनाश के सभ्य, आधुनिक तरीके ईजाद करने की खोज में लगे मानवता द्रोही बुद्धिजीवियों के लिए शिक्षाप्रद, अमूल्य दस्तावेज है. संपूर्ण अंक आदमी के भीतर व्याप्त आतंक का बयान है. कितना दो-टूक सफाई के साथ समझाया है—भाई **योगेश गुप्त** ने **आतंकित इतिहास** के माध्यम से.

काश ! मानव-विनाश जैसे जरूरी मुद्दों को यों ही शाब्दिक औपचारिकता समझकर हवा में उड़ानेवाली विश्व की सत्तायें कुछ समझ पातीं!

इस प्रकार की अमूल्य सामग्री मानवीय हितों की दिशा में अपना अपेक्षित रंग लायेगी ऐसा मेरा विश्वास है. दुर्लभ सामग्री को एक ही मानसिकता पर प्रस्तुत करने के लिए बधाई.

● **देवेंद्रसिंह यादव, ईटानगर**

ईंटों में दबा सिंह सेनापति

युद्ध कथा विशेषांक में **बलराम** द्वारा महापंडित **राहुल सांस्कृत्यायन** द्वारा प्रस्तुत **सिंह सेनापति** का संक्षिप्त रूपांतर पढ़ा. इस संक्षिप्त रूपांतर में कई मुख्य घटनाओं के अभाव ने इसे अरुचिकर बना दिया है. एक अत्यंत रोचक ऐतिहासिक उपन्यास का यह संक्षिप्त चित्रण कुछ भोंड़ा-सा लगा. मैंने आज से ४० वर्ष पूर्व इसे पढ़ा था. कालांतर में जब मैं पटना गया तो वहां के संग्रहालय के अधिकारियों से उन ईंट के पन्नों के बारे में अपनी जिज्ञासा व्यक्त की, जिस पर कुछ तो हंस दिये और कहा आपसे पहले कई जन इसके बारे में प्रश्न कर चुके हैं. ऐसी कोई चीज इस संग्रहालय में नहीं है. संयोगवश एक और सज्जन उन ईंटों को देखने के चक्कर में मुझसे टकरा गये और वही ढाक को तीन पात. बहरहाल पुस्तक के प्रीफेस पर वर्णित ईंटों के पन्नों की कहानी शायद पुस्तक को प्राचीनता का प्रमाण दे, अति रोचक बनाने के लिए गढ़ी सी लगती है. इन सोलह सौ ईंटों का पता राहुल जी ने अपने विहार के एक मित्र के खेत में अनायास, मेड़ पर बैठे लकड़ी से भूमि कुरेदते समय पाया था और बाद में उस स्थान की खुदाई ने यह महाकोश महापंडित की झोली में डाल दिया. ईंटों पर उकेरे अक्षर पाली में थे.

● **ललित मोहन श्रीवास्तव, इलाहाबाद**

युद्ध अंक बनाम संक्षिप्तीकरण अंक

युद्ध कथा अंक विशेषांक के अनुरूप नहीं लगा. इसमें विशेष तथा बृहद उपन्यासों यथा सिंह सेनापति, संभवामि, मंगलवासियों का आक्रमण तथा बाइसवां विधान का सार—संक्षिप्त अत्यंत शार्ट कट हो गया है, जिससे उनकी रोचकता समाप्त हो गयी. साथ ही विख्यात दार्शनिक **बर्ट्रेंड रसल** रचित **युद्धः विज्ञान की छाया में** एवं **योगेश गुप्त** का **आतंकित इतिहास** भी प्रभावित नहीं कर सके. कुल मिलाकर युद्ध-कथाअंक संक्षिप्तीकरण अंक बनकर रह गया.

लेकिन सारिका की परंपरानुसार श्रेष्ठ कथाएं प्रस्तुत करने की दिशा में इस अंक में **तकषि शिवशंकर पिल्लै** की **कोई मनीआर्डर नहीं आया** अत्यंत मार्मिक है. स्वार्थ तथा एकला-पीड़ा की अभिव्यक्ति को सरल भाषा तथा सहज ढंग से व्यक्त करना उनकी खूबी है. इसी तरह रूसी कथाकार **बोरिस लेव्रेयोव** ने भी **इकतालीसवां दुश्मन** में अत्यंत संयत स्वर में भाव-पक्ष की प्रबल संवेदना का कुशल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण व्यक्त किया है जो बड़ा ही प्रभावी बन पड़ा है.

यद्यपि युद्ध पर व्यापक रचनाएं, संस्मरण तथा कहानियां लिखी जा चुकी हैं, फिर भी चेक लेखक **जान दरदा** की **निस्तब्ध मोर्चा** सबसे अलग प्रतीत होती है. जिसमें आम नागरिकों द्वारा करो या मरो का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, जे मन की गहराइयों तक उतर जाता है.

● **प्रदीप कौशल, जबलपुर**

एक अच्छा काम

आपने चाहा और हमने किया.

सारिका के 'ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कथाकार विशेषांक' (१ व २) पाठकों को इतने रोचक ज्ञानवर्धक लगे कि वे इन्हें संभालकर रखना चाहते हैं. आपकी सुविधा के लिए हमने ये दोनों विशेषांक एक साथ जिल्द करवा दिये हैं, मूल्य वही ८ रुपये. डाक से मंगवाने पर १० रुपये: मनीआर्डर / पोस्टल आर्डर / ड्राफ्ट कृपया इस पते पर भेजें :—

प्रसार मैनेजर,
टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन,
७, बहादुरशाह जफर मार्ग,
नयी दिल्ली-११०००२

युद्ध से पहले : युद्ध के बाद

युद्ध-कथा-अंक आद्योपांत पढ़ने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगा. तो भी संपूर्ण अंक युद्ध-विज्ञान-साहित्य का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बनकर सामने आया है. समय-समय पर हुए युद्धों का दुखःद प्रारंभ व उनके प्रभाव क्षेत्र में संतप्त नर-नारी की करुण-कथा को जिस रूप में दर्शाया गया है, वह स्वयं में पूर्ण है.

आतंकित इतिहास, जो देश के लिए लड़े, **युद्ध की एक रात, कोई मनीआर्डर नहीं आया** तथा **युद्ध विज्ञान की छाया में** अतिविशिष्ट लगे.

● **हरीश उपाध्याय, सिवसागर**

पश्चिमी करुणा

यूं तो अंक की सभी कहानियां शिक्षाप्रद रहीं, पर इस अंक में सबसे अधिक प्रभावित किया अमरीकी कथाकार **एदिता मोरिस** की कहानी **वियतनाम को प्यार** ने.

मानवीय करुणा से परिपूर्ण ऐसी कहानी मैंने सारिका में पिछले पांच वर्षों से नहीं पढ़ी थी. इस कहानी ने अत्यधिक प्रभावित किया. मन में प्रश्न उठा 'क्या पश्चिमी लोगों में भी इतनी करुणा होती है?'

इस अंक के अंतिम पृष्ठों में हलचल के अंतर्गत, **नागर विशेषांक** का लखनऊ में शिवानीजी द्वारा 'विमोचन' पढ़कर प्रसन्नता हुई. यह बात बहुत अच्छी उठायी गयी कि लखनऊ विश्वविद्यालयवाले लखनऊ के साहित्यकारों को विशेष महत्व नहीं देते हैं. यह मैं अपनी बी. ए. की पढ़ाई (७७-७८)के समय देख चुकी हूं. आशा है अब लखनऊ विश्वविद्यालयवाले उचित कदम उठायेंगे. लखनऊ के बारे में जितना प्रामाणिक नागरजी ने लिखा है उतना कोई इतिहासवेत्ता भी नहीं लिख सकता.

● **इंदिरा डौंडियाल, हल्द्वानी (उ. प्र.)**

विज्ञान के बावजूद

युद्धः विज्ञान की छाया में एक वास्तविक रूपरेखा प्रस्तुत करती है, जो आईने की तरह है, जिसमें यह स्पष्ट दिख सकता है कि मानव किस तरह मानवता का गला दबा सकता है. साथ ही एक प्रकाश की अदद रोशनी भी है. "यदि विज्ञान के बावजूद मानव जीवन अपने को बचाये रखना चाहता है तो मनुष्य को अपनी भावनाओं पर अनुशासन रखना होगा."

● **अरुण अभिषेक, पूर्णियां**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात

कथा पीढ़ी-तीन : यथार्थ के व्यापक होते जाने का दौर

नयी कहानी आंदोलन के बाद की कहानियों का दौर मोहभंग की स्थिति का दौर रहा. आजाद भारत की जो कल्पना की गयी थी तथा लोगों ने जो अपने लिए अपेक्षाएं संजोयी थीं वे पूरी नहीं हो सकीं. नयी कहानी आंदोलन से जुड़े रचनाकारों को लगातार लगता रहा कि आजादी के बाद जिंदगी के अर्थों और पारंपरिक आदर्शों की परिकल्पना को बदलना चाहिये. इसीलिए उन्होंने कहानी में बदलाव की बात उठायी थी. कहानी के बदलाव को तो एक स्वस्थ और सही दिशा मिली लेकिन जिंदगी के अर्थों और नये आदर्शों के बदलाव की परिकल्पना का स्वार्थ की आपाधापी में दम घुट गया. आजादी के दस साल बाद उभरनेवाली कथापीढ़ी को अर्थहीनता और मूल्यहीनता की विषैली स्थितियों में सांस लेने को मजबूर होना पड़ा. इन विषैली हवाओं ने आदमी को छोटा कर दिया साथ ही उसे एक घुटन, टूटन और संत्रास झेलने के लिए भी मजबूर होना पड़ा. इन्हीं स्थितियों में लघु मानव का जन्म हुआ.

देश में शहरीकरण और औद्योगिकीकरण का दौर शुरू हो चुका था और अपनी जड़ें फैलाने लगा था. भारतीय शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के लिए नयी तकनीक का आयात हुआ और उस आयात के साथ ही बाहर के विचार और आंदोलन भी हमारे यहां आये. अस्तित्ववाद, नवसमाजवाद, भूखी पीढ़ी, बीट पीढ़ी आदि की विचारधारायें बेरोक-टोक भारतीय रचनाकारों के पास आ गयीं. इन विचारधाराओं ने ही हिंदी कहानी को महानगर बोध, लघुमानववाद और अकथावाद या अकहानीवाद जैसी चीजें दीं.

शहरीकरण के साथ ही रिश्तों के टूटने का सिलसिला भी शुरू हुआ. 'पिता' और 'रक्तपात' जैसी कहानियां इस बात का प्रमाण हैं. पीढ़ियों के अंतराल का सिलसिला भी इसी दौर से शुरू हो गया था. उसका मुख्य कारण संस्कार और संस्कृति का वर्णसंकरत्व था. ऐसा वर्णसंकरत्व भी शहरीकरण की ही देन है. क्योंकि गांव या कस्बे से महानगर में आये हुए लोग दोनों ही जगह विस्थापित होने की स्थिति झेलते रहे. दरअसल, वे लोग आधुनिक होने का अहम् पालकर गांवों और कस्बों से कटते गये, और महानगरों से जुड़ नहीं पाये. हर जगह और हर क्षेत्र में यह त्रिशंकु जैसी स्थिति ही संत्रास को जन्म देती रही है. और इस पीढ़ी के संत्रास का कारण भी कमोबेश ऐसी स्थिति का पैदा हो जाना ही था.

इन तमाम स्थितियों ने उस दौर के रचनाकार को नये यथार्थ के दर्शन कराये थे. दरअसल वह दौर यथार्थ के व्यापक होते जाने का दौर ही था. वह यथार्थ की पारंपरिक अवधारणा से अलग था. कुछ लोग इस दौर को कहानी के संदर्भ में रिक्तता और शून्य का दौर भले ही कह दें लेकिन वे उस कालखंड को हिंदी कहानी के इतिहास से खारिज नहीं कर सकते. वह कहानी की विकास-यात्रा का एक जरूरी पड़ाव था. उस दौर में बहुत ही सशक्त और महत्वपूर्ण रचनाकारों की अपेक्षा अधिक ही थी. ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, रवींद्र कालिया, ममता कालिया, गंगाप्रसाद विमल, से. रा. यात्री; मधुकर सिंह, महेंद्र भल्ला, गिरिराज किशोर, कामतानाथ, मेहरुन्निसा परवेज, नरेंद्र कोहली, और रमेश उपाध्याय आदि के नामों की उपेक्षा नहीं की जा सकती. भले ही यह दौर मिश्रित संस्कृतियों और विचारधाराओं का रहा हो, लेकिन इस दौर के रचनाकारों ने आनेवाली कहानी को नव्य यथार्थ की जमीन जरूर दी थी.

इस दौर की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपने बीच किसी भी स्वयंभू चौधरी को नहीं पनपने दिया. साथ ही एक दुर्भाग्य भी है कि इस दौर के कई महत्वपूर्ण रचनाकार कहानियां लिखना बंद कर चुके हैं. मैं यह बात मात्र इस निवेदन के रूप में कह रहा हूं कि वे अपने आपको चुके हुए या मरे हुए वर्ग में न रखें तथा अपने आपको भूतपूर्व ही बनाये रखें और अभूतपूर्व होने से बचे रहें. ये सभी मेरे व्यक्तिगत मित्र हैं और मुझे विश्वास है कि वे अपना वायदा और मेरा इशारा स्वयं समझ जायेंगे.

आप सबको मेरी और मेरे साथियों की ओर से दीपावली की शुभकामनाएं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जांच अभी जारी है

ममता कालिया

एक तो नौकरी, वह भी बैंक की. मिल जाए तो कौन नहीं सराहेगा अपना नसीब ? लेकिन मानवीय गरिमा और अस्मिता के साथ कैसी छेड़छाड़ होती है इन राष्ट्रीयकृत बैंकों में और कहां-कहां से होकर गुजरना पड़ता है किसी महिला अधिकारी को ? प्रस्तुत है एक तेज-नल्ख जवाब

एक सम्मानित राष्ट्रीयकृत बैंक में नियुक्ति पाकर वह फूली नहीं समायी. विद्यार्थी जीवन से ही उसे बैंक की नौकरी आकृष्ट करती थी. उसे लगता, शक्ति, सच्चाई और नैतिकता जैसे मूल्यों का एहसास जितना बैंक में हो सकता है, उतना अन्य किसी नौकरी में नहीं. हाथ नोटों से भरे रहें, फिर भी दिमाग विचलित न हो, यह एक अग्निपरीक्षा ही होती होगी, पर कुछ दिन नौकरी पर जाकर अपर्णा ने पाया यह सब महज रूटीन का हिस्सा है. हालांकि इससे छह महीने पहले अपर्णा की नियुक्ति विश्वकर्मा डिग्री कॉलेज में हो चुकी थी, उसने इस नौकरी की खातिर लेक्चररशिप छोड़ दी. शिक्षक प्राध्यापक उसे बासी और निरीह लगते थे.

उसकी ड्यूटी मुख्य हॉल में थी. कुल पच्चीस मेजें थी. हाल भरा-भरा लगता. अपनी एक निश्चित जगह और अलग मेज देख अपर्णा को गर्व और संतोष हुआ. उसने घर जाकर मां और पिताजी से कहा, "जितनी बड़ी घर में चारपाई है, उतनी बड़ी तो मेरी मेज है वहां. रोज लाखों रुपये का टर्नओवर होता है, इतनी बड़ी बैंक है."

मां और पिताजी गौरवान्वित हुए, " हमारी बेटी ने अपनी लियाकत के बूते यह जगह पायी है. हजारों ने इम्तहान दिया, पर पास तो बिरले ही हुए. भगवान तुझे दिन-रात तरक्की दें."

काम में मेहनत और एकाग्रता की जरूरत थी. दोनों गुल अपर्णा में थे. दो बजे तक का समय तो पलक झपकते बीत जाता, क्योंकि वह पब्लिक डीलिंग का समय होता. उसके बाद शुरू होता असली काम. गार्ड शटर बंद कर देता. अंदर पैसे-पैसे का हिसाब मिलाया जाता. अपर्णा के लिए यह करिश्में से कम नहीं था कि इतने काउंटरों पर, इतनी मेजों पर इतनी तरह से पैसों का लेन-देन हो और अंत में हिसाब एक क्रांसवर्ड पहेली की तरह फिट बैठ जाये. जब सारा हिसाब फिट बैठ जाये, साढ़े चार बजे तक ही सारे कर्मचारी और अधिकारी फुर्सत में आ जाते. तब चाय का दौर चलता और हाल गपबाजी से गूंज उठता, लेकिन किसी-किसी दिन हिसाब में बल पड़ जाता, दस पैसे या दस रुपए की गड़बड़ निकलती और सारा स्टाफ रोक लिया जाता . सभी कागजात नये सिरे से जांचे जाते, लेजर मिलाये जाते, पूरी नगदी गिनी जाती और चाहे शाम के सात बजते, हिसाब साफ होने के बाद ही स्टाफ फारिग होता.

शुरू-शुरू में अपर्णा को बड़ी हंसी आती. अरे, अगर दस पैसे का हिसाब गड़बड़ है तो अपने पास से मिला दो, बस छुट्टी. कम है तो अपने पर्स से डाल दो, ज्यादा हैं तो दराज में डाल दो, भूल-चूक लेनी देनी, पर उसके सहयोगियों ने समझाया कि यह भूल-चूक वाला मुहावरा बैंकिंग के किसी काम का नहीं. यह तो बैंकिंग के सिद्धांत का शत्रु है.

बैंक के शाखा प्रबंधक एक नाटे-मोटे-चश्मेवाले मिस्टर खन्ना थे, जो सारा दिन हस्ताक्षर करते देखे जाते थे. यह राष्टीयकृत बैंक शहर के हृदय में स्थित था. इसलिए यहां व्यापारियों, व्यवसायियों के छोटे-बड़े खातों की भरमार थी. वे सुबह दस बजे इंतजार करते मिलते. पान चबाते हुए वे अपने स्कूटरों पर या बैंक की सीढ़ियों पर खड़े होते. कुछ व्यापारियों, फर्मों के मुनीम और एकाउंटेंट इस काम के लिए आते, लेकिन पुराने किस्म के लाला धोती-कुर्ते में स्वयं आते. उन्हें देखकर यह अंदाज लगाना मुश्किल था कि वे कितनी हैसियत के आदमी हैं, लेकिन लेजर देखने पर पता चलता, वे लाखों में चलते हैं. सुबह-सुबह अपनी घर की सिली बनियानों की चोर जेबों में नोटों का वक्षस्थल फुलाये जब वह जमा काउंटर पर खड़े होते, अपर्णा का मन होता, उनसे कहे, "सेठ जी, थोड़ा सा पैसा खर्चकर कपड़े किसी पावर पैक्ड साबुन से धुलवा लीजिए, सारे बैंक में पसीने की गंध उड़ रही है." पर प्रकट में वह यों ही सिर नीचा किये अपना काम करती रहती. अपर्णा को अपने सहयेगियों पर और खुद अपने पर हैरानी होती. पैसा एक अमानत की तरह उन सब के हाथों से गुजराता. अपर्णा अपनी सहेलियों को बताती, "पता है, जिस कुली के सिर पर ईंटों की तरह चिनवाकर पांच-पांच लाख के नकद नोटों की गड्डियां स्ट्रांग रूप से ट्रेजरी भिजवाई जाती हैं, उस कुली की कुल मजदूरी क्या होती है—सिर्फ दस रुपये रोज. आप उससे पूछिए, कब से यह काम कर रहा है, तो कहेगा, सिर्फ दस साल से."

सहेलियां दंग रह जातीं, "कमाल है, दस साल में क्या एक भी बार उसकी नीयत खराब नहीं हुई. हम होते तो नोट लेकर भाग जाते."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपर्णा सिर हिलाती, ''तुम भी ऐसा न करती. जब सिर पर जिम्मेदारी पड़ती है तो ईश्वर अपने आप शक्ति देता है.''

''तुम तो ऐसे बोल रही हो, जैसे किसी यूटोपिया में पहुंच गयी हो.''

''सच यूटोपिया ही लगता है. हर आदमी अपने काम में इतना मुस्तैद, इतना चौकस है कि इस संस्था और उसकी प्रणाली पर ही गर्व होता है. यकीन न हो तो किसी दिन आकर देखो.''

दो-चार बार अपर्णा की सहेलियां उसके दफ्तर गयीं. पर अपर्णा काम से इतनी घिरी रहती कि वे लोग उठकर कॉफी पीने भी न जा सकीं. अलबत्ता मेज पर ही कॉफी मंगा कर पी ली गयी.

सहेलियों ने मुंह बनाया, ''यह तो दस से पांच तक जेल की तरह है.''

अपर्णा मुस्करा दी. उसे पता था, यह वे नहीं, उनकी कुंठा बोल रही थीं.

ये वे दिन थे, जब अपर्णा आशा और विश्वास से भरी हुई थी. उसे जगह-जगह लिखे नारे भी अच्छे और अर्थपूर्ण लगने लगे थे. 'परिश्रम ही देश को महान बनाता है.' 'अनुशासन आज की जरूरत है.' 'कड़ी मेहनत, पक्का इरादा, दूर दृष्टि.'

उसे रात में सपने भी इसी तरह के आने लगे जैसे दिन में उसके खयाल थे. सपने में उसे दिखता कि वह अपनी ही शाखा में एक सहयोगी की पत्नी बन चुकी है. रोज सुबह साढ़े नौ बजे वे दोनों अपना अपना लंच बाक्स थामकर इकट्ठे स्कूटर से रवाना होते हैं, दोनों का एक ज्वाइंट एकाउंट है और घर में दोनों की मर्जी से काम-काज होता है.

ये निहायत मुमकिन किस्म के सपने थे, और अगर हॉल में एक भी आदमी अविवाहित और नौजवान होता तो ये पूरे भी हो सकते थे, पर मौजूदा स्टाफ में सब लोग इस कदर विवाहित थे कि उनके बारे में सोचना भी फिजूल था.

दफ्तर में दो महिलाएं और थीं. उनकी अपर्णा से कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं थी, मगर बहुत घनिष्टता भी नहीं थी. उन दोनों की आपस में बहुत बनती थी. कभी-कभी अपर्णा को सतर्क करना वे अपना कर्त्तव्य समझतीं.

मिसेज श्रीवास्तव कहतीं, ''संभल कर रहना अपर्णा. ये शादी-शुदा मर्द बड़े खतरनाक होते हैं. पहले आतुर बनेंगे, फिर कातर, एकदम पन्नालाल हैं सब के सब.''

अपर्णा कहती, ''मुझे तो सब बड़े सीधे नजर आते हैं. लगता ही नहीं कि मर्दों के बीच बैठे हैं.''

मिसेज श्रीवास्तव एक तजुर्बेदार हंसी हंस देतीं.

अपर्णा को काम करते हुए करीब ढाई महीने हो गये. एक दिन खन्ना साहब ने यकाएक उससे पूछा.'' आज शाम क्या कर रही हैं आप?'' अपर्णा सतर्क हो गयी. उसे सारी चेतावनियां याद हो आयी.

''जी, मुझे मां को लेकर डॉक्टर के पास जाना है.''उसने मुंह लटकाकर कहा, ''कोई जरूरी काम है क्या?''

''मैंने सोचा, आवर्ती जमा योजना का बहुत-सा काम चेक करना है, आपकी मदद से आज निपटा लूं.''

अपर्णा को अपनी चालाकी पर ग्लानि हुई, लेकिन अब वह झूठ बोल चुकी थी.

''आज की शाम आप क्या कर रही हैं,'' यह सवाल धीरे-धीरे बैंक का हर छोटा बड़ा अधिकारी अपर्णा से पूछ चुका था. अपर्णा बुद्धू नहीं थी. मां की बीमारी, पिता का प्रवास उसके रक्षाकवच थे. अपनी शाम साबुत सुरक्षित बचाने का उसके पास यही उपाय था. लेकिन एक शाम वह चपेट में आ ही गयी. हम उम्र सहयोगी सिन्हा ने कहा, ''अपर्णा जी, आज ऑफिस के बाद ऑफिस में ही दो-चार मित्रों को बुलाया है, आप भी रुकें.''

अपर्णा ने अपना कवच और कुंडल निकाला, 'देखिए मुझे मां के साथ...''

''नहीं, अपर्णाजी, आप सिर्फ बीस मिनट मुझे दे दें. मेरे बेटे का जन्म दिन है आज.''

''आप घर पर जन्मदिन नहीं मनायेंगे.''

मेरा बेटा अपनी मम्मी के साथ बनारस गया हुआ है. सुबह से ही उसकी बड़ी याद आ रही थी, इसलिए कुछ लोगों को यहीं बुला लिया.''

अपर्णा एक तरह से फंस गयी. उससे यह कहते नहीं बना कि वह बीस मिनट भी नहीं दे सकती.

पांच बजे बैंक के सभी लोग चले गये. सिर्फ चौकीदार और दो चपरासी अपने-अपने स्टूल पर बैठे रह गये. थोड़ी देर में सिन्हा के मेहमान आने शुरू हो गये. दफ्तर के बाहर दो-चार स्कूटर, मोपेड और एक मारुति खड़ी हो गयी. इनमें से किसी का भी चेहरा अपर्णा के लिए पहचाना हुआ नहीं था, इसलिए वह अपनी सीट पर ही बैठी रही. सिन्हा का कमरा अंदर को था. जल्दी ही सिन्हा आकर उसको लिवा ले गया. सबसे सबका परिचय हुआ. केक की रस्म अदा होने के बाद अपर्णा ने देखा, चपरासी दाताराम एक बड़ी-सी प्लेट में ढेर सारी बर्फ ले आया.इसके पहले कि वह चीजों को समझे, बात की बात में न जाने किस कोने से विह्स्की की बॉटिल लाकर मेज़ पर रख दी गई. बैठे लोगों के थके चेहरों पर एकाएक स्फूर्ति आ गयी. सिन्हा ने मेज की दराज़ से ग्लास निकाल लिये.

''एक्सक्यूज मी,''अपर्णा ने कहा और उठ गयी, ''अरे-अरे, आप क्या अनर्थ करती हैं, बैठिए.'' सिन्हा ने उसे रोका.

जी नहीं, मैं जाऊंगी.'' अपर्णा ने दृढ़ता से कहा, और बाहर हॉल में आ गयी.

चपरासी और चौकीदार उसे कौतुक से देख रहे थे.

''छि: यह सब दफ्तर में चलता है और आप लोग रोकते भी नहीं.'' अपर्णा ने कहा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हम रोकनेवाले कौन होते हैं, जब आप लोग नहीं रोकते."

"क्या यहां अक्सर यह सब चलता है."

"और बैंक में शाम को क्या होता है. कभी सिन्हा साहब, कभी खन्ना.'" राष्ट्रीयकृत बैंकों का यह इस्तेमाल अपर्णा के लिए एक धक्का था. शाम को जब कभी उसने बैंक की बिजली जली देखी, उसने यही सोचा था कि यहां के अधिकारी कितने मनोयोग से अपना काम पूरा करते हैं.

रिक्शा स्टैंड तक अपर्णा को खतरा महसूस होता रहा कि कहीं सिन्हा उसके पीछे न आये. जब वह सकुशल रिक्शे में बैठ गयी, उसने चैन की सांस ली.

घर में मां या पिता को इस घटना की जानकारी देना निरर्थक दुश्चिंता बढ़ाना होता. वह चुप रही. आज उसकी अकड़ खंडित होते-होते बची थी.

साल बीतने पर वह भी एल. टी. सी. प्राप्त करनेवालों में हकदार हो गयी. मां ने कहा, "तू छुट्टी ले ले तो हम सब जगन्नाथ पुरी चलें."

"चलो, मां की मर्जी ही सही." अपर्णा ने सोचा, हालांकि वह खुद कुल्लू-मनाली के सपने देख रही थी. मां ने सारी तैयारी कर ली. उसने दफ्तर से एडवांस लिया. आरक्षण आसानी से हो गया, लेकिन यात्रा की सुबह एक अप्रत्याशित घटना हो गयी. पिताजी को अचानक चक्कर और सीने में दर्द उठा. देखते-देखते वे तीनों स्टेशन की बजाय अस्पताल पहुंच गये, जहां शुरू हो गया ई. सी. जी. और अन्य परीक्षणों का एक लंबा सिलसिला. अपर्णा की दस दिन की छुट्टी इस बीमारी ने निगल ली. पिताजी बच गये, लेकिन वे तीनों इस दौरे से बेहद विचलित हो गये.

इस बीच अपर्णा ने दफ्तर फोनकर अपने अधिकारी को इत्तला दे दी थी कि वह छुट्टी में घूमने नहीं जा सकी है. उसने सोचा, वह छुट्टी के बाद जब दफ्तर जायेगी, एडवांस वापस कर देगी.

दस दिन बाद जब वह दफ्तर गयी. चपरासी ने उसे एक रजिस्टर्ड लिफाफा पकड़ाया. पत्र बैंक के क्षेत्रीय कार्यालय से आया था, जिसमें लिखा था—'आपने एल. टी. सी. का झूठा बिल पेश कर बैंक के साथ धोखा धड़ी और धन के दुरुपयोग की चेष्टा की है. इस संबंध में अपना स्पष्टीकरण तत्काल दें अन्यथा आपके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई करने को हम बाध्य होंगे.'

अपर्णा पत्र लेकर धड़धड़ाती हुई खन्ना के केबिन में पहुंची, "सर, मैंने तो फोन पर आपको पहले ही सूचित कर दिया था कि..."

शाखा प्रबंधक ने चश्में में से उसे घूरकर कहा, "मुझे आपका कोई फोन नहीं मिला. आपको जो भी कहना है, लिखित में कहें."अपर्णा के लिए यह आरोप न सिर्फ निराधार था, वरन बचकाना भी, खासकर तब जब कि आज वह अपने पर्स में एडवांस की रकम भी लौटाने की गर्ज से लायी थी.

खन्ना ने सिन्हा को बुलाकर सलाह की. तय यही हुआ कि ये जो नये अपरिपक्व, अनुशासनहीन अधिकारी हैं, उन्हें सबक सिखाया जाये और उनकी लीपापोती कतई मंजूर न की जाये.

सिन्हा ने कहा, "और सर, हमारी फाइल में इनके द्वारा दिया गया बिल भी लगा हुआ है. उस पर तारीख भी उनके हाथ की ही दी हुई है."

अपर्णा अभी भी डरी नहीं. उसे लगा, सच्चाई उसके साथ है, उसकी नीयत में कोई खराबी नहीं है, फिर वह क्यों घबराये.

घर में माता-पिता को उसने संक्षेप में थोड़ा-सा समझाया, पर समस्या को बहुत हल्का बनाकर ताकि पिताजी के कलेजे पर बोझ न पड़े.

"तू क्यों चिंता करती है. मैं चलूंगा तेरे साथ क्षेत्रीय दफ्तर." पिता ने कहा.

जाते वक्त पूरे रास्ते पिता उसे समझाते रहे, "तू बिल्कुल न डर. सत्य में आज भी बड़ी शक्ति है. मेरी इतनी उम्र हो गयी, मैंने आज तक झूठ का सहारा नहीं लिया और मैं कभी घाटे में नहीं रहा."

क्षेत्रीय कार्यालय कानपुर की एक व्यस्त स्वच्छ सड़क पर था. भव्य इमारत, भारी सुरक्षा और तामझाम से भरपूर. कार्यालय का हर अधिकारी और कर्मचारी वहां व्यस्त नजर आ रहा था.

अपर्णा संबंधित अधिकारी से मिलना चाहती थी. 'पूछताछ' से पता चला कि वे तो दौरे पर निकले हुए हैं. उनके कनिष्ठ अधिकारी जरूर मौजूद हैं. इस अधिकारी की केबिन में जाने से पहले विभागीय कर्मचारियों का एक हॉल क्रॉस करना पड़ता था.

जब अपर्णा अपने पिता को साथ लेकर केबिन में जाने को उद्यत हुई, चपरासी ने रोककर कहा, "एक-एक करके जाना, भीड़ की भीड़ क्या करेगी अंदर."

"भीड़ नहीं, यह मेरे पिताजी हैं." अपर्णा ने तैश में कहा.

"आर्डर नहीं, एक बार में खाली एक जन जायेगा." पिताजी को बाहर ठहरने को कह अपर्णा अंदर गयी. कनिष्ठ अधिकारी वरिष्ठ अधिकारी की अकड़ से बैठा अपना कान फोन में और आंख फाइल में लगाये था, उसने अपर्णा के अंदर आने का कोई नोटिस नहीं लिया और बड़ी देर तक फोन पर केवल ओ आ ऐं जैसे स्वर में बोलता रहा. थककर अपर्णा सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ गयी. फोन रखते ही उसने अपर्णा की ओर इतने रूखे सरकारी ढंग से देखा कि वह अटपटाकर खड़ी हो गयी. और न चाहते हुए भी उसने अपनी बात में 'सर' 'सर' कहना शुरू कर दिया. एक डेढ़ मिनट उस अधिकारी ने अपर्णा की बात ध्यान से सुनी, फिर निरपेक्ष भाव से कहा, "अब आप क्या चाहती हैं?"

"मैं चाहती हूं, मेरे स्पष्टीकरण पर आप ध्यान दें और मेरी विश्वसनीयता पर संदेह न किया जाये."

"स्पष्टीकरण की पुष्टि करना हमारा फर्ज होगा. शाखाप्रबंधक और उनके सहयोगी अधिकारी की रिपोर्ट पर आपके विरुद्ध जांच की कार्रवाई तो करनी ही पड़ेगी."

"यह सरासर अन्याय है. मैंने अभी अर्ज किया कि वह पैसे मैंने एडवांस बिल के एगेंस्ट लिये थे. छुट्टी के बाद मैं वह धनराशि तुरंत लौटाने ही आयी थी."

"आपने अपनी यात्रा के रद्द करने की कोई सूचना अपने कार्यालय को नहीं दी नंबर एक, आपके बिल पर कहीं भी एडवांस बिल जैसा शब्द नहीं लिखा हुआ है नंबर दो और आपके पास अपनी भेजी गयी सूचना का कोई लिखित सबूत नहीं है. फिर हम कैसे मानें कि आप संदेह से परे हैं."

"आप अपने विवेक से न्याय करें, क्या आपको मैं एक बेईमान लड़की मालूम देती हूं."

"व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का दफ्तर के रूटीन में कोई अर्थ नहीं होता. फिर इधर हमारे यहां नये आये जूनियर्स में इतने अजीब तत्व घुस गये हैं कि इनकी पड़ताल होनी जरूरी है. आप जा सकती है."

"पर सर..."

"आप अपना समय बरबाद कर रही हैं."अधिकारी ने घंटी बजा दी. अपर्णा बौखलाई-सी चपरासी के पीछे-पीछे बाहर आयी. उसके पिता डीलिंग क्लर्क के सामने पड़ी कुर्सी पर बैठे हुए थे. क्लर्क के मुंह में ठूंसमठूंस पान भरा था और वह बड़े गौर से अपने चश्में में से अपर्णा को देख रहा था. 'चलो' अपर्णा ने बिनां उससे बात किये पिता से कहा. क्लर्क ने गुस्से में मुंह का पान लहूलुहान कर लिया. उसे केस का पता था. उसे लगा, गले तक मुसीबत में फंसी है लड़की, पर अकड़ देखो, डीलिंग क्लर्क से बात करते हेठी होती है इसकी. दर्जनों केस उसकी मेहरबानी से इसी दफ्तर की आलमारियों में दफन हुए पड़े हैं. उसने सोचा था, लड़की आकर उससे ठीक से मुलाकात करेगी, थ्रू प्रापर चैनल अंदर जायेगी और आइंदा इस मनहूस बूढ़े को लाकर उसके सामने न बैठाने की समझदारी दिखायेगी तो वह मामला दबवा देगा. अभी जांच की कार्रवाई का कागज डिस्पैच नहीं हुआ था, पर इसके तो मिजाज सातवें आसमान पर अटके हुए हैं.

उसके चले जाने के बाद उसने अपने चपरासी (जो उसका परामर्शदाता भी था) से कहा, "इसी तरह यह अपने पिताजी के साथ आती रहेगी तो दसियों साल इन्क्वायरी चलवाऊंगा. रो न दे तो कहना."

चपरासी खैनी के लिए श्रीवास्तव का मोहताज रहता था. उसकी किसी बात से असहमत होना उसे कभी ठीक न लगता. उसनेसिर हिलाया.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ममता कालिया

अगला पूरा हफ्ता भागदौड़ में बीता. हालांकि वह नयी थी, सहयोगी उससे हमदर्दी रखते थे. जिसने जिस मददगार का नाम बताया, वह वहीं दौड़ी, लखनऊ और कानपुर उसके लिए कटरा और ममफोर्डगंज बन गये. किसी किसी भी सूचना पर, बिना रेल आरक्षण के वह सफर पर चल देती, पिच-पिच भरे डिब्बों में बोरे पर बैठ, खड़े हो, लटक कर. अधिकतर संबंधित व्यक्ति से मुलाकात ही न होती या वह अपनी व्यस्तता बताकर दो दिन बाद का वक्त देता. अनजान शहर में कहीं भी टिकना उसे निरापद न लगता. मजबूरन वह वापस आकर दो दिन बाद फिर दौड़ लगाती.

मां और पिता लाचार उसे देखते. उन्हें लगता, उनकी अप्पी वाकई बड़ी हो गयी है. अब उसकी मुश्किलों का हल वे नहीं निकाल सकेंगे.

जांच बैठ चुकी थी.

फ़ाइल मोटी होती जा रही थी, अपर्णा दुबली.

क्षेत्रीय कार्यालय के एक अधिकारी प्रीतमसिंह, यूनियन के एक प्रतिनिधि समीर सक्सेना, और एक अन्य अधिकारी जांच समिति में शामिल थे.

उसी दफ्तर में जहां अपर्णा एक अधिकारी की हैसियत से जाती रही थी, अब एक अभियुक्त की तरह आती और शाखा प्रबंधक के कमरे के बाहर पड़ी कुर्सी पर बैठी रहती. फाइल गोद में रखे और आंखें दीवार पर टिकाये जांच का आतंक कुछ ऐसा था कि दफ्तर के चपरासी तक ने अपर्णा को सलाम करना बंद कर दिया. कोई इस लफड़े में पड़ना नहीं चाहता था.

जांच के दौरान षद्युधा सवाल इस तरह पूछे जाते जिनका जवाब हां या नहीं में अपेक्षित होता.

अपर्णा अपने को बेहद फंसा हुआ पाती. उसकी शक्ल हर समय रुआंसी रहने लगी थी.

बड़ी मुश्किल से उसे यह पता चला कि समीर सक्सेना कहां रुके हुए हैं. उसने सोचा, वह विशेष रूप से उनसे मिलकर अपनी बात समझाने की कोशिश करेगी.

उनसे मिलना आसान नहीं था. अक्सर होटल में उनके कमरे में ताला ही पड़ा रहता. जब वे लौटते तो उनके मुलाकाती एक छोटे-मोटे जुलूस की शक्ल में उनका स्वागत करते. वे देर तक लाउंज में लोगों की समस्याओं का समाधान निकालते और उनके प्रार्थनापत्र प्राप्त करते. इतनी भीड़ के बीच अपर्णा अपना मामला खोलना नहीं चाहती थी. इसमें सिर्फ तमाशा बन सकता था, लेकिन भीड़ से निपटते ही समीर सक्सेना कमरे में दाखिल हो जाते और वेटर उनके दरवाजे पर 'डू नाट डिस्टर्ब' की तख्ती लटका देता.

वेटर की काफी मिन्नत, खुशामद और बख्शीशबाजी के बाद एक दिन अपर्णा को सक्सेना जी से मुलाकात का मौका मिला.

उन्होंने काफी गौर से उसकी बात सुनी. अब तक अपर्णा हर एक महत्वपूर्ण व्यक्ति को 'सर' कहने की आदी हो चली थी. उन्होंने टोका, ''आप तो स्वयं अधिकारी हैं, नयी हैं तो क्या. आपको किसी को 'सर' नहीं कहना चाहिए.''

अपर्णा को सक्सेनाजी की बातों से राहत मिली. पहली बार उसे किसी ने इंसान की हैसियत से संबोधित किया था.

''मैं देखूंगा, कैसे केस उलझ गया है, क्योंकि उवनके पास सबूत है, आपके पास सबूत नहीं है.''

''क्या नेकनीयती अपने आप में सबूत नहीं होती?'' अपर्णा ने पूछा.

''दफ्तरी मामलों में सबसे जरूरी चीज होती है लिखित सबूत. फिर भी मैं कोशिश करूंगा. यह खन्ना कैसा आदमी है?''

''महाधूर्त !'' अपर्णा ने कहा. सक्सेनाजी के अधपके बालों की ओर देखकर अपर्णा ने संकोच से कहा, ''आपको बताते हुए मुझे संकोच होता है, लेकिन दफ्तर में खन्ना साहब और सिन्हा साहब दोनों का व्यवहार महिला कर्मचारियों से उचित नहीं है.''

''इस सिलसिले में हमारे पास कभी कोई शिकायत नहीं आयी.''

''पर मुझे तो मालूम है. एक नयी प्रोबेशनर को रोज़ अपनी मेज की दराज में कागज पर लिखे अश्लील शेर मिला करते थे, उसने मुझे खुद दिखाये थे. वह लिखावट हूबहू खन्ना साहब की थी. मेरे प्रति भी उनका सख्त रवैया तभी शुरू हुआ, जब मैंने शाम पांच बजे के बाद दफ्तर में रुकने से इंकार किया.''

''लेकिन यह एक आम शिकायत है कि जब-जब महिला वर्करों की योग्यता पर सवाल उठाये जाते हैं, वे पुरुषों के चरित्र की बात बीच में ले आती है.''

''ऐसा नहीं है सर, यह बहुत हद तक ठीक भी होता है''

''इस वक्त पचड़े को उठाने से आपको इस मामले में कुछ वक्त और मिल जायेगा पर इससे क्या हासिल होगा. क्या आपकी सहेली इस बात की पुष्टि करेगी कि उसे खन्ना साहब तंग करते रहे हैं.''

मैं पूछूंगी. वैसे मैं अब तक काफी तनाव और परेशानी से गुजर चुकी हूं. मैं भी नहीं चाहती कि मेरा केस अनिश्चित काल तक घिसटता रहे.''

''आप पता कर मुझे बताइए. क्या किसी और महिला को दफ्तर में खन्ना साहब से शिकायत है.''

अगले दिन अपर्णा ने फरीदा जमाल से बात की. फरीदा उससे जूनियर थी और जब उसे लगातार चार दिन अपनी दराज में गंदे शेर लिखे रखे मिले, उसने अपना दुखड़ा अपर्णा को सुनाया था.

शिकायत का प्रस्ताव सुन वह एकदम बिदक गयी. वह इस वाकये को पब्लिकली नहीं कहना चाहती थी. फिर अब तो ये शेर-ओ-शायरी बंद भी हो चुकी थी.

''ना बाबा, मैं इस सब लफड़े में नहीं पड़ना चाहती. कितनी फजीहत होगी. मेरे अब्बा तो मुझे जान से मार डालेंगे.''

''पर ऐसी बातों का पर्दाफाश होना चाहिए कि नहीं! यह साहब आने वाली और लड़कियों को भी इसी तरह परेशान करेगा.''

''करेगा तो वे खुद निपटेंगी. मैं मोर्चा नहीं बनाना चाहती. केस आपके झूठे बिल का है, उसका इन सारी बातों से क्या रिश्ता ?''

फरीदा के तेवर बदलते देख अपर्णा चुप हो गयी.

सक्सेनाजी से उसका मिलना तय था.

सब कुछ सुनकर वे बोले, ''मैंने आपसे पहले ही कहा था, व्यर्थ के नये प्रसंग उठाने से कोई लाभ नहीं होगा, सिर्फ थोड़ा वक्त मिल जायेगा. आज तो मैं वापस लौट रहा हूं, अगली बार आऊंगा तो हम आपकी डिफेंस की रूपरेखा बना लेंगे. आपकी फाइल भी मैं अच्छी तरह देखूंगा.' अपर्णा ने सोचा कि वह दस मिनट में फ्री हो जायेगी, पर सक्सेना साहब ने डेढ़ घंटा लगा दिया.

प्रीतम सिंह घनी दाढ़ी और भारी देहवाले सहृदय से दिखने वाले अधिकारी थे. उनके बारे में किसी को ज्यादा जानकारी नहीं थी. वह तो एक दिन उनका एक फोन आने से अपर्णा को यह जानकारी मिली कि वे गेस्ट हाउस में रुके हैं. वह वहां गयी.

''जब सब बातें दफ्तर में हम सुन रहे हैं, यहां आने में कोई सेंस नहीं है मिस जोशी.'' सिंह साहब ने उसे दरवाजे पर खड़ा देखकर कहा.

"नहीं सर, आपको मेरी बात सुननी पड़ेगी.'' अपर्णा ने पूरा प्रकरण उन्हें सुनाया.

सिंह साहब ध्यान से सुनते रहे, फिर बोले ''लेकिन इस सब का सेंस क्या निकलता है! यही कि यह आरोप बेबुनियाद है. मेरी बात पर यकीन किया जाये.''

''टेलीफोन पर दी गयी सूचना को हम कैसे आधार बना सकते हैं.''

''जांच तो आपके विवेक पर हो रही है.''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेष विश्व और हमारा साहित्य

□ शिवप्रसाद सिंह

विश्व-साहित्य के स्तर पर रवींद्रनाथ की स्वीकृति आकस्मिक घटना थी. कार्य-कारण-परंपरायुक्त तथ्य नहीं. यूरोपीय देशों में हिंदी साहित्य या कथा-साहित्य का क्या महत्व होगा, इस पर कुछ कहना कटु सत्य का पल्लवन मात्र होगा. रूस में किये जाने वाले अनुवाद कार्यों को मैं मामूली खानापूरी से अधिक महत्व नहीं देता. ऐसी स्थिति में विश्व-साहित्य से हिंदी कहानी की तुलना के प्रश्न की समीचीनता मेरी समझ में नहीं आयी. जो स्थिति इस दरिद्र, निर्बल पथभ्रमग्रस्त, वैभवपूर्ण परंपरा और अभावग्रस्त आधुनिकतावाले देश की राजनीति में है, वही विश्व-साहित्य की तुलना में उसके साहित्य की भी है, उससे अलग नहीं. □

"तुम अपनी फाइल लायी हो." सिंह साहब के यकायक तुम संबोधन से अपर्णा उत्साहित हो गयी. उसे लगा जैसे अंधेरे में कोई चिराग जला हो.

"जी सर."

सिंह साहब फीइल पलटने लगे.

इस वक्त शाम ढल चुकी थी. अपर्णा सुबह से घर से निकली थी. उसके पैरों में दिन भर की थकान थी. भूख और प्यास से मुंह एकदम सूख रहा था, लेकिन वह एक बार फिर जबरन अपनी आवाज में जान भर कर सिंह साहब को एक-एक कागज समझा रही थी. उसे लग रहा था कि उसकी डूबी नाव को सिंह साहब बचा लेंगे.

"चाय पियोगी." सिंह साहब ने पूछा. अपर्णा को और भी अच्छा लगा. अचानक सारी फीलिंग्स और फाइल पर दाढ़ी के ढेर से सफेद बाल छितरा गये. अपर्णा ने दहशत में खुले दरवाजे की ओर देखा, जिसे अब तक वह बहुत बड़ी सुरक्षा मान रही थी. दरवाजे पर मोटा पर्दा था, जिसे सिंह साहब बहुत बड़ी सुरक्षा मान चुके थे.

फाइल इतनी पेचीदा थी कि एक बार नहीं कई-कई बार देखी गयी, कभी सिंह साहब देखते, कभी सक्सेना साहब. जांच की सुनवाई खिंचती चली जा रही थी. अपर्णा फाइल ढोते-ढोते बेजान हो चली थी. सारा शरीर सफेद पड़ता जा रहा था, रक्तहीन. चेहरे पर न पहले का नूर था, न नरमी. वह एक ऐसे कुचक्र में पड़ गयी थी कि फाइल दिखाने से न तो वह मना कर सकती थी, न विद्रोह. कई बार उसने सोचा, वह सीधे वित्तमंत्री को पत्र लिखे, पर वह जानती थी कि पत्र का नतीजा यही होगा कि एक जांच और बैठा दी जायेगी. उसकी फाइल और भी पेचीदा होती जायेगी और दर्जनों अधिकारियों के हाथों से गुजरेगी.

इस बिंदु पर नौकरी छोड़ने का मतलब होता, वह सारे आरोप स्वीकार करते हुए त्यागपत्र दे रही है. ऐसी स्थिति में अन्य कोई नौकरी मिलनी भी मुश्किल थी. अब तक शहर में जांच की खबर फैल चुकी थी, जहां कोई परिचित सामने पड़ जाता, उसे अजब नजरों से देखता. उनकी निगाहों से लगता, अपर्णा बेहद मक्कार और बेईमान इंसान है. और वे खुद एकदम सच्चे साफ ओर पवित्र हैं. सहेलियों ने शुरू में कुछ दिन हमदर्दी दिखाई, फिर वे भी इस प्रसंग से ऊबने लगीं. अपर्णा हर स्तर पर अकेली होती गयी.

जिन दिनों जांच की कार्रवाई स्थगित रहती, अपर्णा के मन में बेहद आक्रोश इकट्ठा होता रहता. वह सोचती, उसे खन्ना के केबिन में घुसकर एक दिन उसे ताबड़-तोड़ मारना है, सिन्हा के स्कूटर के सामने उसे पत्थर रख देना है. एक दिन कुर्सी पर खड़े होकर वह चीख-चीखकर सबको बतायेगी कि इस राष्ट्रीयकृत बैंक में कैसे घपले और सौदेबाजी होती है. झूठे बिलों के जरिए हर आदमी हजारों रुपये डकारता है, चाहे वे मेडिकल बिल हों या यात्रा बिल या स्टेशनरी बिल. इस सब की कोई शिकायत नहीं होती. इस सब पर जांच नहीं बैठायी जाती. जांच उसके अठारह सौ के बिल पर बैठाई गयी है. जिस पर अब तक अठारह हजार रुपये खर्च हो चुके होंगे. उसे पता है, इस बैंक में छोटा-बड़ा कोई कर्ज बिना कमीशन के मंजूर नहीं होता. ऊपर से नीचे तक सब का परसेंटेज बंधा है.

सब कुछ समझते हुए भी अपर्णा अपनी आवाज न उठा पाती. उसे पता था, दफ्तर में वह अपनी विश्वसनीयता खो चुकी है.

खोया तो उसने और भी बहुत कुछ. अब उसे लगता, जिस कारण उसने खन्ना और सिन्हा से अदावत मोल ली, अब तो वह उस कारण की भी हिफाजत नहीं कर सकी.

जांच अधिकारी उसे लगातार ढाढस बंधाते, "तुम बिल्कुल बेफिक्र रहो. इस मामले को निपटाकर हम तुम्हारा तबादला और पोस्टिंग ऐसी ब्रांच में करवा देंगे, जहां किसी को इस सब मामले की खबर ही न होगी. तुम नये सिरे से जीवन शुरू कर सकोगी."

क्या कभी वह नये सिरे से जीवन शुरू कर सकेगी, अपर्णा सोचती और उसकी उदासी गहरी होती जाती.

हालांकि उसकी फाइल अब तक अच्छी तरह देखीभाली जा चुकी थी, फाइल देखने का दबाव अभी भी उतना ही था. उसके शनिवार, रविवार सब इस जांच की बलि चढ़ चुके थे. अब उसे इसका कुछ-कुछ अंदाज था कि उसका नतीजा क्या होगा. उसके निर्दोष साबित होने के पूरे आसार थे, पर इस संभावना के बावजूद अपर्णा के चेहरे की मनहूसियत घट नहीं, बढ़ रही थी. उसे लग रहा था कि असली मजा तो वह पा चुकी है. दुनिया की नजरों में गुनहगार की हैसियत से जी लेना उसके लिए एक भयंकर अनुभव रहा था, जिसे जांच अधिकारियों के दिलासे भी कम नहीं कर सके थे. उसे लगता था, उस जांच की जांच कभी ठंडी नहीं होगी. इसी तरह शुक्रवारों को फोन आते रहेंगे, शनिवार और इतवार उसकी फाइल निगलते रहेंगे. वह इसमें से निकलने की कोशिश में और भी उलझती जायेगी. बहरहाल, जांच अभी जारी है. □

● ३७० रानी मंडी, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)

कहानी : नयी-पुरानी

□ रवींद्र कालिया

समकालीन कथा-साहित्य मुझे संतोष देता है, क्योंकि उसे पढ़कर मैंने कभी नहीं सोचा कि मुझे लिखना छोड़ देना चाहिए. समय के साथ-साथ संतोष की मात्रा (जिसे मैं पूर्वाग्रह भी कह सकता हूं) बढ़ती जा रही है. बढ़ती नहीं जा रही है तो उसमें संतुलन अवश्य कायम है. संतुलन इस तरह कि युनिवर्सिटी के दिनों कृष्णा सोबती और निर्मल वर्मा की जिन कहानियों का हम सामूहिक पाठ किया करते थे, आज, उसमें कुछ नहीं टटोल पाता या कुछ ऐसा जो मुझे आज भी प्रिय हो. उन कहानियों की जगह उन्हीं लेखकों की दूसरी कहानियों ने ले ली है. कुछ वर्ष पूर्व जो कहानियां मुझे बहुत प्रिय थीं, आज प्रिय नहीं हैं. इसको विपरीत करके देखूं तो यह भी सच है कि बहुत-सी अप्रिय कहानियां दुबारा पढ़ने पर प्रिय हो गयी हैं. मगर ऐसी कहानियों की संख्या अधिक है, जिन्हें दुबारा-तिबारा पढ़ने पर भी राय नहीं बदलती. ऐसी कहानियां ही मेरे निकट पुरानी कहानियां हैं, जो समय की गति को वहन नहीं कर पातीं. ऐसी कहानियां, कहानियां ही रहती हैं. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किला

विजयमोहन सिंह

कहानी-लेखन के साथ-साथ कथालोचना के क्षेत्र में जिन चंद लोगों ने महत्वपूर्ण काम किया है उनमें विजय मोहन सिंह उल्लेखनीय हैं... 'एक बंगला बने न्यारा' और 'आज की कहानी' जैसी कृतियों के कृतिकार की नव्यतम कहानी---

हम भटक गये थे. हम दोपहर से चल रहे थे और अब शाम हो रही थी. जाड़ों की शाम का अंधेरा पहाड़ी रास्ते को चारों ओर से दबोच रहा था. किसी को पता नहीं था कौन-सा रास्ता हमें पहुंचायेगा. पर हम चलते जा रहे थे, पथरीली चढ़ान पर बीच-बीच में ठोकरें खाते. थकान भी अंधेरे की तरह दबोच रही थी. पीछे नाटे बैलों पर हमारा सामान था. उनके गले में बंधी लड़खड़ाती घंटियां बज रही थीं. उनके खुर जब भी पत्थरों से टकराते, जंगल का सन्नाटा बढ़ जाता. चढ़ाई और मुश्किल होती जा रही थी---ज्यादा खड़ी और पेड़ों की ऊंची टहनियों की ओर जाती हुई. हम कब तक चलते रहेंगे इस तरह? पगडंडी जिधर ले जा रही थी हम जा रहे थे. हमारे पास सब कुछ था : चावल, आटा, घी, चाय की पत्ती, चीनी, खाना पकाने के बर्तन, स्टोव, थर्मसों में गर्म काफी और दो बंदूकें भी. हम कुल आठ थे. पर हम पहुंचेंगे कब? हमारे एक पथप्रदर्शक भी थे जिनका कहना था कि वे उस रास्ते से कई बार गुजर चुके हैं और हम ठीक रास्ते पर हैं. उनके हाथ में एक बड़ी-सी टॉर्च थी. वे बीच-बीच में मुड़कर आवाज से कम टॉर्च की तेज रोशनी से ज्यादा-ढाढस बंधाते जा रहे थे. पर रास्ता था कि खत्म होने को नहीं आ रहा था. "पर हम कब तक चलते रहेंगे इस तरह?" आखिर किसी ने पूछ लिया, काफी देर बाद. "बस आ पहुंचे हैं." वे शायद दसवीं बार यह कह रहे थे. अपनी टॉर्च से वे रोशनी की संकरी-सी सुरंग बनाते चल रहे थे और हम सब उसके भीतर थे. जगह-जगह कंटीली झाड़ियां उस सुरंग में 'बैरियर' बनी हुई थीं और हर आदमी हाथ से उन्हें टालता हुआ चल रहा था. हम लगातार कुबड़े होते जा रहे थे खड़ी चढ़ाई और थकान के कारण.

कुछ देर बाद अचानक चढ़ाई खत्म हो गयी. हम पहाड़ के पठार पर थे. किंतु रास्ता गायब हो गया था. अब कोई रास्ता नहीं था, केवल चारों ओर घनी झाड़ियां और लंबी घास से भरा मैदान था. पथप्रदर्शक रुक गये, हमारा काफिला भी. हमें ठंड भी लगने लगी थी. बैल झूमते हुए सिर हिला रहे थे. उन्हें सुस्ताने का मौका मिला था. लेकिन हम दिशाहीन थे. जाड़ों की रात में ओस बरसाते आसमान के नीचे. भूख, थकान और अब ठंड में लिपटे हम अब कुछ सोचने के काबिल भी नहीं थे. हम आठ में से कोई यकायक किसी तरफ चलने लगा. उधर घास कम ऊंची थी और झाड़ियां घनी नहीं थीं. फिर दूसरा, तीसरा और आठवां भी उधर ही चलने लगा. इस बार पथप्रदर्शक सबसे पीछे थे. यह चलना भी चढ़ाई की तरह था. इस बार समतल पर उतना ही लक्ष्यहीन. शायद लग भी नहीं रहा था कि हम समतल पर चल रहे हैं. पैर चढ़ाई का बोझ लिए हुए चल रहे थे. चलते-चलते सबने अलग-अलग पर मन ही मन निश्चय कर लिया कि कहीं थोड़ी खुली जगह मिली तो आग जलायेंगे और कुछ खा-पीकर पड़ जायेंगे. इसके अलावा हो भी क्या सकता था?

जब दरअसल खुली जगह मिली, साफ-सुथरी पत्थर की सख्त सतह, तो कहीं से जानवरों के रम्हाने की आवाज आयी. साथ ही खली मिले ताजे कटे चारे की गंध भी. सामने जानवरों का बाड़ा था. करीब पहुंचते ही नांदों में मुंह चलाने और चबाने की ध्वनि भी उस गंध में शामिल हो गयी. हम यहां सो सकते हैं, गाय-भैंसों के साथ---आदमी न भी हुए तो. हम बाड़े के किनारे-किनारे चल रहे थे. कुछ तेज-तेज. "कौन?" बाड़े के भीतर से ऊंची आवाज आयी.

"हम यात्री हैं. रास्ता भूल गये हैं."

"कौन से यात्री?" और हमारे सामने दो कद्दावर आदमी लाठियां लिए खड़े थे. हमने उन्हें बताया, जितना उस सवाल की सख्ती और अपनी हड़बड़ी में बता सकते थे. पर वे समझ गये. हमने पूछा, "किला कहां है?"

"बस, पास ही, यहां से मुड़ते ही दिखायी देगा."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

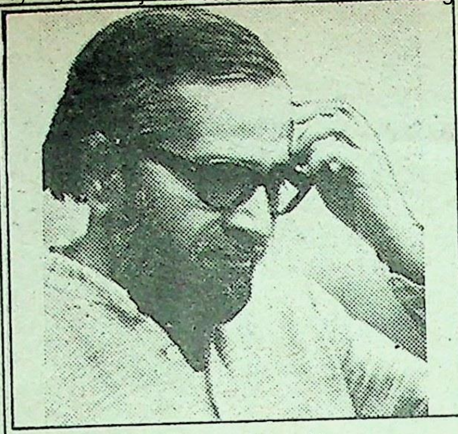

● विजय मोहन सिंह

"और डाक बंगला?"

"उसके बिल्कुल बगल में" और वे बाड़े के भीतर लौट गये. बाड़ा खत्म होने के बाद सचमुच मुड़ते ही किला नजर आया. ऊंचे परकोटे से घिरा. उस पहाड़ के सीने पर नक्काशीदार पहाड़ की तरह सवार. उसकी बुर्जियां अंधेरे को आकार दे रही थीं. परकोटे की बगल से चलते हुए अब हम खुश थे और बातें भी कर रहे थे एक दूसरे को छेड़ते हुए. परकोटे के भीतर हमारी आवाजें गूंज रही थीं. गोया उसके भीतर की मनहूस खामोशी में कुछ लोग हों और बातें कर रहे हों.

परकोटा खत्म हो गया. किला हमारी पीठ पर झुका था. पर डाक-बंगला? किले की विशाल उपस्थिति के पड़ोस में हमें डाक बंगला तलाशना था. वह काफी देर बाद नजर आया. परकोटे के एक कोने के बाहर दुबका हुआ. खपरैल की छतोंवाला, सफेद नन्हा-सा बंगला. उसके बरामदे में पांव रखते ही हम लगभग वहीं पसरना शुरू हो गये. हमारे पास एक पेट्रोमेक्स भी था और कुछ लोग उसे जलाने की कोशिश कर रहे थे. मैं बरामदे के खंभे के सहारे बैठा देख रहा था. पेट्रोमेक्स जलाना मुश्किल काम है--लंबा और थोड़ा जटिल. अचानक मैंने देखा कि उस पर झुका हुआ एक हाथ भक से जल उठा है. मशाल की तरह. अदभुत दृश्य था यह. मेरी थकान उस जलते हुए हाथ की सुंदरता में काफूर हो गयी. मैं देखता रहा मशाल की तरह जलते हुए उस हाथ को--जो खुद एक मशाल था. आखिर लोगों ने भाग दौड़कर उसे बुझा दिया और अब पेट्रोमेक्स जल रहा था. अपने जालीदार रेशमी लट्टू से झकाझक उजाला फैलाता. मुझे उस जलते हुए हाथ की मशाल बुझ जाने पर निराशा हुई. थोड़ी देर में स्टोव भी जलने लगा. सूरजमुखी के फूल की तरह, उसकी भरभराहट डाक बंगले के बरामदे में भौंरे की तरह चक्कर लगा रही थी. जलते पेट्रोमेक्स के दायरे के बाहर अंधेरा उसी तरह अचल था--अचल और अंतहीन. शायद प्रकाश की सीमा होती है अंधेरे की नहीं. उस अंतहीन अंधकार से प्रकट हुआ एक आदमी, प्रकाश की सीमा में कदम रखता, अंधेरे की तरह काला-लंबा पूरा, "आप लोग कौन हैं?" उसने पूछा. हमने बताया हम कौन हैं. "तुम कौन हो?" हमने पूछा. "मैं डाक बंगले का चौकीदार हूं." हम ज्यादा खुश हो गये. "यह बहुत अच्छा हुआ. तुम आ गये, जल्दी डाक बंगले के कमरे खोल दो, हम यहां रात बितायेंगे, कल किला देखेंगे." पर वह हिला तक नहीं, खड़ा रहा, "आपके पास ऑर्डर है?"

"ऑर्डर? कैसा ऑर्डर?"

"एस. डी. ओ. साहब का ऑर्डर, नीचे से लिखाकर लाना पड़ता है."

"नीचे?" मैंने अंधेरे की ओर देखा, नीचे हम सुबह थे.

"हां, बिना उसके यहां कोई ठहर नहीं सकता, मुझे डेरेवालों ने बताया कि डाकुओं का एक गिरोह बंदूकें लेकर आया है."

"हम डाकू नहीं हैं, यात्री हैं किला देखने आये हैं."

"आप लोग कुछ भी हों, पर बिना ऑर्डर के यहां कोई नहीं आ सकता."

"तब हम डाकू ही हैं." हममें से जिसके पास एक बंदूक थी, बंदूक लेकर उसके सामने आ गया, "हम यहीं रहेंगे और तुम भी, या नहीं तो . . ." उसने अछोर अंधेरे की ओर देखा. चौकीदार का जिस्म आबनूस की तरह चमकीला और तराशा हुआ था. उसका सिर रोशनी के ऊपर अंधेरे में तना था. रोशनी में चमकती बंदूक की दोनाली उसके सामने थी. जलते हुए हाथ की तरह अभी वह भक से जलेगी . . . चौकीदार कांपने लगा, किसी मलेरिया के मरीज की तरह और दोनाली के नीचे पैरों पर गिर पड़ा, "मुझे मारिये मत, मैं गरीब हूं, मेरे बाल बच्चे हैं, यहां डेरेवालों के पास भी कुछ नहीं है. बस गाय-भैंसें हैं, डाक बंगले में कुर्सियां और पलंग हैं. आप सब ले जाइये, मुझे मारिये मत." हमें उम्मीद नहीं थी कि चीजों का रुख इस तरह हो जायेगा. मैंने नरमी से उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा, "देखो, हम डाकू-वाकू नहीं हैं, क्या तुम्हें लगता है कि ये लोग डाकू हैं?" मैंने बाकी सबकी ओर दिखाते हुए कहा, "हम करीब के गांव से आये हैं, एस. डी. ओ. साहब हमें जानते हैं, कल जाकर मालूम कर लेना, ऑर्डर का पता होता तो हम जरूर ले आते. पर अब तुम्हीं बताओ कहां जायें, रात है, हम दूर से थके-मांदे आये हैं. तुम्हीं बताओ, डाकू क्या यह सब लेकर चलते हैं?" मैंने साथ के रसद-पानी और बर्तन-भांड़े की ओर संकेत कर कहा, "तुम हमारी मदद करो, डाक बंगले में न सही, पर क्या हम तुम्हारे मेहमान नहीं हो सकते? हम खाना बनायेंगे, तुम भी हमारे साथ खाओ, तुम्हारे घरवाले भी."

वह चुप रहा, लगभग कुछ न सोचता हुआ, फिर उसने कुर्ते की जेब से चाभियों का गुच्छा निकाला और कमरे खोलने लगा, "कुल तीन कमरे हैं, पलंग पर बिस्तर लगे हैं, गद्दे-तकिये और भी हैं, पर पानी नहीं आ रहा होगा. पीछे के कमरे में बाल्टियां हैं. मैं डेरे से ला दूंगा." फिर थोड़े संकोच से उसने कहा, "मेरे साथ किसी और को भी भेज दीजिए, मैं केवल दो बाल्टी पानी ला सकता हूं." हमारे साथ के दो लोग उसके साथ गये और कुछ देर बाद बाल्टियां में भरकर पानी लाये, उससे खूब बतियाते हुए. वह चहक रहा था. उसे रोज ज्यादातर उस बियावान अंधेरे में पीछे की कोठरी में सोना पड़ता होगा. और आज यहां आठ लोग हैं, जो डाकू नहीं हैं मनमौजी और बातूनी हैं. और जो बढ़िया खाना बना रहे हैं. उसने कटते-छिलते ताजा आलू, मटर, गोभी और उम्दा चावलों को देखा और पालथी मारकर मटर छीलने बैठ गया, "साहब कोई कमी हो तो बताओ, दूध, दही, मसाला?"

"नहीं, नहीं, कुछ नहीं, अब तुम बैठो." पर अचानक किसी को ध्यान आया, "अरे, नमक लाना तो भूल ही गये और नमक के बगैर. . .?"

"अभी लाया साहब." और वह अंधेरे में काले घोड़े की तरह गुम हो गया.

हम अभी भी सशंकित थे, शायद वह लठैत डेरेवालों को बुलायेगा और वे हमारी आफत कर देंगे. पर कुछ देर बाद वह हांफता हुआ लौटा—एक हाथ में नमक की डिबिया और दूसरे में ताजा हरी धनियां की पत्तियां, टमाटर, हरी मिर्च लिए हुए, "साहब यह आपके डीह की हैं, अंधेरे में जितनी मिलीं ले आया." धनिया की ताजा पत्तियों की हरी खुशबू स्टोव के जलते तेल के ऊपर तैर गयी. खाना सबने छककर खाया, लेकिन लगभग ऊंघते हुए. वह किसी तरह खाने के लिए तैयार नहीं था पर हमने बड़ी मुश्किल से काफी खाना उसके अंगोछे में बंधवा दिया, दिन के बचे आलू के पराठे, अचार और भुजिया भी.

बहुत सवेरे वह भैंस का ताजा दूध लेकर आया, पीतल के लोटे में अभी भी भैंस के थनों की गर्मी थी.

डाक बंगले के बाहर दिसंबर की धूप में चाय पीते हुए मैंने किले को देखा.

मटमैले पत्थरों का किला पहाड़ के उस पूरे हिस्से को घेरकर अकड़ा था--सदियों से. पत्ता नहीं कब से? इतिहास के पन्नों से बाहर, किंवदंतियों में, जिनसे बाहर शायद वह रहा भी न होगा. अचानक मैं चौंक गया--मैं केवल किला देख रहा था, पर मेरी निगाह उसके परकोटे पर फिसलती हुई नीचे छलांग लगा गयी. नीचे, बहुत नीचे पहाड़ के तल पर विराट आईने की तरह चमकती नदी थी. क्या दोनों में कोई ताल्लुक था? किले और नदी में? वह नीचे थी, बहुत नीचे और किला यहां बहुत ऊपर बना था, नदी से भी विराट आकाश के आईने में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को निहारता. दो आईनों के बीच में किला. शायद दो आईने किले को निहार रहे थे—सदियों से, उस समय से भी पहले जब जयशंकर प्रसाद की 'ममता' ने 'शोणभद्र के तीक्ष्ण प्रवाह' को निहारा होगा. पर वह प्रवाह, इस वक्त तीक्ष्ण नहीं मंथर था, बल्कि था ही नहीं, एक ठोस, चमकीली नीली सतह थी, जिस पर कोई चाहे तो चल भी सकता था, मंत्रपूत तपस्वियों की तरह. यह खेल कब से चल रहा था? किले को आकाश और नदी ने देखा. किले ने क्या-क्या देखा?

"साहब, बाघ देखेंगे?" मेरे सामने चौकीदार खड़ा था, अपनी चमकती काली काया में उजले दांत चमकाता हुआ, "बाघ? कहां?" "यहीं पास ही, पर कुछ दूर जंगल में चलना पड़ेगा." बाकीसभी लोग भी इर्द-गिर्द जमा हो गये थे, हर कोई बाघ देखना चाहता था, पर कोई बाघ को देख कैसे सकता था, जिंदा बाघ को?

"साहब घबराइए मत, मेरे साथ आइए. बंदूकें यहीं छोड़ दीजिए." "बंदूकें यहीं छोड़ दें, जिंदा बाघ देखने के लिए?" 'हां साहब, मेरी बात मानिए, बाघ देखना हो तो बंदूकें यहीं छोड़ दीजिए." कोई इस बात पर तैयार नहीं था. तय हुआ कि बंदूकें चलेंगी, पर कुछ करेंगी नहीं, वे कुछ करेंगी तो बाघ भी कुछ करेगा. इसके अलावा यह एक कानूनी मामला भी होगा.

वह ज्यादा लंबा सफर नहीं था, पर जंगल बेहद घना था और उसके बीच तीतर, खरगोश और लोमड़ियां भाग रही थीं. बंदूकों को कुछ करना नहीं था. चिड़ियां उड़ रही थीं और चहक रही थीं इस पेड़ से उस पेड़ पर. उन्हें शायद बाघ से कुछ लेना-देना नहीं था, वह रुक गया, हम भी रुक गये. करीब पचास गज आगे जहां जंगल कम घना था—एक मांद थी. उसके गहने नीले अंधेरे में सूरज मुश्किल से पहुंच रहा था. "बस," चौकीदार ने कहा और आसमान की ओर देखा, "अभी समय है, आइए." वह पास के एक लंबे-चौड़े पेड़ के पास गया और ऊपर पहुंच गया, "सभी लोग धीरे-धीरे यहीं चले आइए, आवाज मत कीजिए, मत बतियाइए." जाहिर है, सबको पेड़ पर चढ़ना नहीं आता था, पर उसने हाथ बढ़ाकर सबको किसी तरह खींच लिया. ऊपर की चिड़ियां उड़ीं और हम सहम गये, किसी ने कहा, "बाघ?" वह मुस्कुराया, "नहीं, अभी नहीं, चुपचाप बैठे रहिए." हम अलग-अलग डालों पर रीछों की तरह बैठे थे. सबसे ऊपर की डाल पर हमारे दल का सबसे भारी-भरकम आदमी बंदूक ताने हुए, पसीने से तर-ब्रतर. काफी वक्त गुजर गया. हम बगैर हिले-डुले बैठे रहे. पर आखिर कब तक हम बैठे रहेंगे? जैसे कल हम पूछ रहे थे आखिर कब तक हम इस तरह चलते रहेंगे? चौकीदार ने फिर आसमान की ओर देखा और ओंठों पर उंगली रख ली. उंगली जैसे उसने अपने ओठों पर ही नहीं पूरे जंगल पर रख दी हो. जैसे पवन भी रुक गयी और परिंदे पर मारना भूल गये. जैसे वह मुकम्मल खामोशी एक प्रतीक्षा थी. आदमियों के बादशाह की प्रतीक्षा से अलग. सबकी टकटकी वहां थी, जैसे सब एक तोप की नाल के भीतर झांक रहे हों, पर वहां से कोई लपट या शोला नहीं निकला. निकला एक सुनहरा शरीर, चमकीली काली झालरों में लिपटा. वह एक बहुत बड़ा सिर था जिसने सबसे पहले आसमान को ही देखा, फिर एक 'सर्च लाइट' की तरह धीमे से घूम गया. और पूरा शरीर बाहर आ गया, अपनी गर्वीली सालस चाल से हरेक पंजे का पूरा वजन धरती पर धरता हुआ. हमारे पेड़ से कुछ दूर वह मंथर-मंथर गुजर गया, पत्तियां की परछाइयों में खोता-दीखता.

चौकीदार का चेहरा दमक रहा था, जैसे उसने कोई खिला हुआ फूल देख लिया हो. काफी देर बाद वह बोला, "साहब, देखा बाघ!" वह हमारी आंख से न जाने कितनी बार देखे हुए उस बाघ को पहली बार देख रहा था. उसी ने देखा बाघ. हममें से अधिकांश के चेहरे थरथराते और गीले थे. बदहवास और पीले. किसी तरह हम नीचे उतरे. उतरते हुए हमारे पथप्रदर्शक पांडेजी लद्द से गिर पड़े. उन्होंने डालों पर जमी काई को भद्दी-सी गाली दी, "चलो साहब कोई डर नहीं, वह झरने पर गया है, बड़ी देर बाद लौटेगा, आप इधर से चलो." वह दूसरा रास्ता था ज्यादा घना, हरा और नम. सूरज अभी वहां की ओस सुखा नहीं पाया था.

"तुम्हें डर नहीं लगता?" मैंने चौकीदार से पूछा.

"नहीं साहब, डर कैसा?" वह मेरे सवाल से हैरान था.

"बाघ से?"

"बाघ से? नहीं साहब, वह तो यहां रहता है बहुत दिनों से, सभी जानते हैं."

"पर कल तुम डर गये थे?"

"किससे साहब?"

"इससे." मैंने धूप में चमकती काली दुनाली दिखाते हुए कहा. वह झेंप कर हंस पड़ा—अपने सफेद दांत चमकाते हुए, "साहब यह तो बंदूक है." उसने धीमे से कहा और चलने लगा. रास्ते में उसने पेड़ों की छाल और झाड़ियों के पत्तों से चिपके तरह तरह के कीड़े दिखाये जो हमारे लिए कीड़े नहीं थे, हरी, पीली सुर्ख मखमली बिंदियां थीं या जगह-जगह जड़े हुए रंग-बिरंगे नगीने.

अगली सुबह हम लौट रहे थे, किले के परकोटे से लगे-लगे चलते. हमारा पथप्रदर्शक चौकीदार था, जो हमें उस रास्ते पर ले जा रहा था जो हमें जल्दी नीचे पहुंचायेगा, बिना भटके हुए. परकोटे का सिरा पास आ रहा था, किला हमारी पीठ पर था, पर शायद हममें से किसी को उत्सुकता या निराशा नहीं थी कि हम परकोटे के भीतर नहीं गये. □

● ई-135, प्रोफेसर्स कॉलोनी, भोपाल (म. प्र.)

सोच की कोठरियों में बंद होता आदमी

छठे दशक की पीढ़ी गांधीवादी नैतिकता और स्वतंत्रता सेनानियों के त्याग से अपरिचित थी. जीवन कठोर से कठोरतर होता गया, जो कि कई पंचवर्षीय योजनाएं देश को मिल चुकी थीं तथापि इस पीढ़ी का झोला खाली का खाली रहा. भ्रष्टाचार, पक्षपात, भाई-भतीजावाद के दिन चढ़ने लगे थे. त्याग निःस्वार्थ, ईमानदारी, सच्चाई आदि केवल कोश की शोभा बढ़ा रहे थे, इनका दैनिक जीवन में कोई उपयोग बच नहीं गया. निश्चय ही, पूर्व पीढ़ी से इन्हें न कोई दृष्टि मिली, न कोई मूल्य. इनके पैर के नीचे से जमीन खिसकती गयी थी, आकाश भाग रहा था सर के ऊपर से. एक खालीपन (वैकुअम) में यह पीढ़ी जीने लगी. इनमें जीवन के प्रति एक पैना किंतु, दोषदर्शी, नकारात्मक दृष्टिकोण पनपता गया. धीरे-धीरे हिंदी-कथा, अ-कहानी, अ-उपन्यास, अ-नायक को लेकर आगे बढ़ी. असंख्य विरोधी परिस्थितियों और दिशाओं के बीच हिंदी कथा वैकुअम में हाथ-पैर मारने लगी. प्रत्येक लेखक नियम कानून तोड़ निजी नारे के साथ वर्तमान को चुनौती देने लगा.

यह या ऐसा अनायास ही नहीं होता रहा. आज के आदमी के सामने सवाल यह है कि आदमी की, समाज की पूर्णता कहां है? समाज के किस ढांचे के रूप को वह अपनाये—फ्रांस या इटली, हंगरी या यूगोस्लाविया, रूस या अमेरिका, चीन या जापान? उसकी मुक्ति कहां है? किसमें है? आदमी के रूप कहां बेहतर है, हुआ है, हो रहा है या हो पायेगा?. . . स्वभावतया राजनीति की आपाधापी के समसामयिक युग में आदमी के समस्त रचनात्मक सोच के बावजूद आदमी ही छूटता जा रहा है, आदमी क्रमशः अनास्था से उत्पन्न हठवादिता के कारण अपने-अपने सोच की कोठरियों में बंद होता जा रहा है. और वह अपनी कोठरियों के दरवाजों, खिड़कियों, रोशनदानों को 'ड्रग्स' या 'प्रतिबद्धता' के हाथों बंद करता जा रहा है. □

(डॉ. मंगलमूर्ति द्वारा 'विभावरी', मुंगेर के तत्वावधान में आयोजित प्रेमचंद जन्मशती-समारोह में पठित निबंध से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीख

गिरिराज किशोर

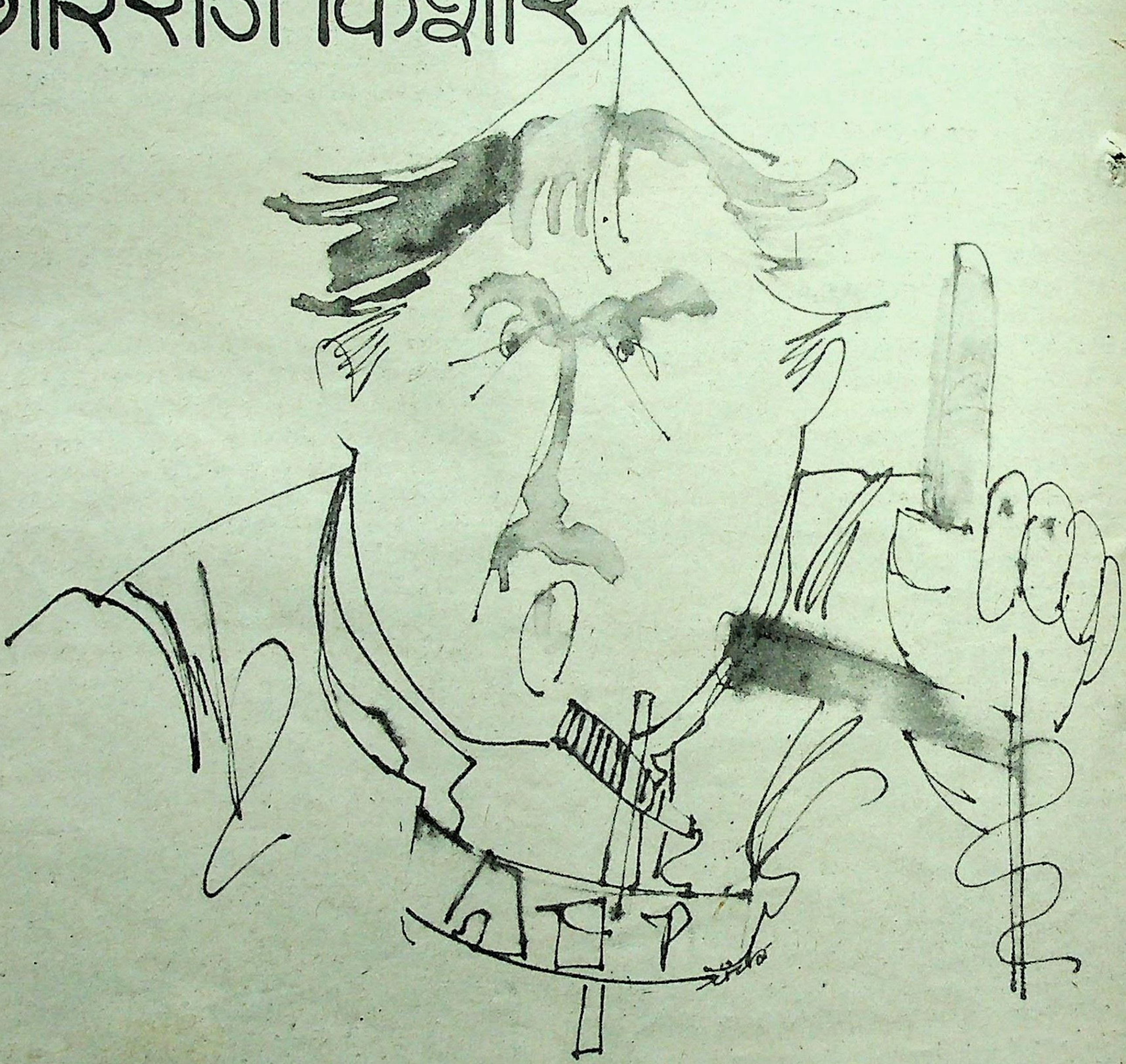

कहते हैं कि कमान से निकला हुआ तीर और मुंह से निकला हुआ शब्द कभी वापस नहीं आते. पर भला जब वह मुंह मंत्री का हो तो किसी शब्द की क्या मजाल कि वापस न आ सके. . . . चाहे वह शब्द 'राष्ट्र-आत्मा' ही क्यों न हो. . . .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्री महोदय के जाते ही केंद्र-निदेशक ने राहत की सांस ली. महीने में एक बार 'मतसंगम' कार्यक्रम का प्रसारण होता था. चूंकि उसमें कोई न कोई मंत्री भाग लेता था इसलिए केंद्र-निदेशक और उस कार्यक्रम से संबंधित लोगों की व्यस्तता दस-पंद्रह दिन पहले से शुरू हो जाती थी. यह व्यस्तता केंद्र के अंदर की उतनी नहीं थी जितनी बाहर की थी. जिस मंत्री का आना होता था उसके पी.ए. और निजी सचिव हर एक घंटे बाद फोन करके कोई न कोई निर्देश देते थे. उनकी बातों से मंत्रीजी की मानसिकता का निरंतर आभास मिलता रहता था. कोई फोन करके पूछता, "यह बताइए, मंत्रीजी से आप क्या अपेक्षा करते हैं?"

केंद्र-निदेशक कहते, "हम लोग तो कोई अपेक्षा नहीं रखते सर. अलबत्ता उस कार्यक्रम में हिस्सा लेनेवाले अपने सवालों के संतोषजनक उत्तर जरूर चाहते हैं."

दूसरा सवाल होता, "उन्हें किस तरह की बातों के लिए तैयारी करनी चाहिए?"

उसका जवाब यही दिया जाता, "मंत्रीजी तो लाखों की सभा में बोलने के आदी हैं—उसके मुकाबले में यह कुछ भी नहीं. जो भी बातें होंगी वे मंत्रालय से ही संबंधित होंगी. उससे बाहर न हम जाने देंगे और न लोग जायेंगे. और फिर हम लोग तो हैं ही."

बात यहीं खत्म हो जाती तो भी बात थी. उधर से फिर कुरेदा-कुरेदी की जाती, "मेरा मतलब था—मंत्रीजी को 'एंबेरेसमेंट' यानी—यानी—परेशानी—असुविधा नहीं होनी चाहिए. मंत्रीजी की सुविधा का ध्यान रखना ही हम सब लोगों का धर्म है. अगर हम इतना भी न कर पाये तो लानत है हम पर और हमारी नौकरी पर."

"बिल्कुल, बिल्कुल ! आपने एकदम सही कहा. मंत्रीजी तो देश के उन चुने हुए महा-पुरुषों में हैं जिनके सहारे देश चलता है. उनकी हर सुविधा का ध्यान रखना हमारा पहला फर्ज है. उनके बैठने के लिए आराम कुर्सी बल्कि सोफा-कुर्सी डलवा दी जायेगी. पानी का गिलास रहेगा—तौलिया रहेगा. हम सब लोग उनका स्वागत करेंगे. लेकिन, माफ कीजिये, फेस तो उन्हें ही करना है."

"वो तो आप ठीक कहते हैं—कुछ तो अंदाज होगा."

"आजकल की जनता को तो आप जानते ही हैं—कितनी नाशुक्री हो गयी है. जरा-सी बात हुई नहीं कि सीधे संसद पहुंचती है, प्रधानमंत्री को लिखती है. यह नहीं सोचती कि ये लोग उनकी सेवा में अपना जीवन लगा देते हैं—अगर कुछ पता भी चल गया तो क्या मुसीबत आ गयी. हम लोगों की नौकरी तो धागे से लटकी ही रहती है. मेरे खयाल से जो योजनाएं आजकल चल रही हैं उनके आंकड़े देख लेना काफी होगा. मंत्रालय में प्राप्त होनेवाली शिकायतों के पैटर्न यानी ढर्रे से तो मंत्रीजी वाकिफ ही होंगे!"

"जरा आप हमीद साहब को बुलवा दें."

केंद्र-निदेशक चक्कर में पड़ जाते कि यही बातें हमीद साहब से भी होंगी. वे क्या जवाब देंगे. वे तो सिर्फ एडिटिंग करते हैं और कार्यक्रम को नियोजित करते हैं. वे यही कहते, "अच्छा मैं दिखवाता हूं—" फिर थोड़ी देर बाद कोई बहाना बना देते हैं, "नहीं—हो सकता है स्टूडियो में हों या चाय पीने चले गये हों—आयेंगे तो मैं कह दूंगा कि आपको फोन कर लें."

"कह जरूर दीजिएगा!"

"जरूर जरूर—कोई मैसेज हो तो दे दें. दरअसल सारी भाग-दौड़ हमीद साहब को ही करनी पड़ती है."

"बस इतना कह दीजियेगा—उनके भाई की फाइल आ गयी है."

यह सब मंत्रीजी के पधारने के घंटे भर पहले तक चलता. बल्कि यूं कहिये कि मंत्रीजी की कार स्टूडियो के लिए रवाना होने से पहले तक इस फोना-फानी का सिलसिला चालू रहता. महीने के जिन दिनों में 'मतसंगम' के बादल गहराते उन दिनों उस विभाग के ज्यादातर लोगों को करीब-करीब जमींदोज ही रहना पड़ता. जिन मंत्रियों के कार्यक्रम गड़बड़ा गये थे, उनके मातहत अधिकारियों तथा पिछलग्गुओं ने इस तरह का प्रचार शुरू कर दिया था कि यही लोग मंत्रालय और मंत्री को कठिनाई में डालने के लिए बेतुके सवाल गढ़ते और गढ़वाते हैं. अगर नहीं भी होते तो स्वयं लिखवाकर सवालों के ढेर में घुसेड़ देते हैं. अफसरान तो मंत्रालय-दर-मंत्रालय नाराज होते ही जा रहे थे. मंत्रीजी की असफलता का सारा नजला उन्हीं पर उतरता था. लौटते ही मंत्री उन पर झुंझलाता था. फटकारता था. ट्रांसफर करता था. चिट्ठियां दिलवाता था. पूछता था, अमुक मसले पर उसे अंधेरे में क्यों रखा गया?

एक-आध मुंह लगे मंत्री ने प्रधानमंत्री के कान में मक्खी की तरह भुनभुन करके डरते-डरते यह भी कहा था, "इससे तो अच्छा आप स्वयं प्रश्न प्रपत्र बनाकर हम लोगों की महावारी परीक्षा ले लिया करें. आप स्वयं पास-फेल करेंगे तो संतोष रहेगा—लेकिन जिस तरह वहां होता है—"

प्रधानमंत्री हंस दिये थे, "इससे आप लोग लाखों-करोड़ों लोगों के द्वारा किये जाने वाले सवालों की बौछार से बच जाते हैं!"

चूंकि प्रधानमंत्री हंस देते थे. इसलिए उन पर दोहरी मार पड़ जाती थी. उनकी हंसी भी सहनी पड़ती थी और स्वयं भी हंसना पड़ता था.

लेकिन इस बार मंत्रीजी के पी. ए. और सचिव का फोना-फानी का कार्यक्रम रिकार्डिंग के बाद भी चालू रहा. रात भर चला. इस बात का अंदाजा केंद्र के अधिकारियों को मंत्रीजी का मूड देखकर ही हो जाना चाहिए था. लेकिन अधिकारी वर्ग भी अपनी तरह का अकेला ही होता है. बहुत-सी बातों की ओर तवज्जो नहीं देना चाहता तो नहीं ही देता. वह मंत्रीजी के मूड के खतरों को न समझकर भी उनके चले जाने पर राहत महसूस करने में लग गया. प्रश्न कुछ ऐसे अजीब थे कि हर प्रश्न के जवाब में मंत्रीजी को काफी बोलना पड़ा था. समय कम होने के कारण कंपीयर यानी बिचौलिये को बीच-बीच में उनकी बातों में व्यवधान डालना या उन्हें काटना पड़ जाता था. यह बात मंत्रीजी को नागवार गुजरी थी. वैसे भी वे पुराने मंत्री थे. उन्होंने वह जमाना देखा था जब मंत्री का मतलब मंत्री से भी कुछ थोड़ा ज्यादा ही होता था. उन्होंने स्टूडियो से निकलते ही केंद्र निदेशक को फटकार लगायी, "आप लोग क्या हमें अपनी इन क्लासों में बैठकर पढ़नेवाला बच्चा समझते हैं—? लगता है आप लोग हमारी परीक्षा लेकर परीक्षाफल घोषित करने की खुशफहमी में जी रहे हैं! इतना समझ लीजिये हमारी परीक्षा हमारी कुर्बानियां और जनसेवा है. इतनी शराफत तो बरती ही जानी चाहिए थी कि कार्यक्रम से दस मिनट पहले हमें सवालात से आगाह कर दिया जाता. दिमाग में रूपरेखा बनाने का मौका तो मिल जाता. जब काम पड़ता है तो आकर सर पर खड़े हो जाते हैं. उसी वक्त हो जाना चाहिए!"

निदेशक ने उन्हें दूसरे पैराये पर लाकर शांत करने की कोशिश की. उन्होंने बेसाख्ता तारीफ शुरू कर दी. "सर, आपका यह कार्यक्रम तो इतना अच्छा गया है कि इससे पहले बहुत कम ऐसे कार्यक्रम हुए हैं. इस तरह के कार्यक्रमों में वे ही लोग सफल हो पाते हैं जो एक्सटेंपोर यानी आशु ढंग से जवाब देने की सामर्थ्य रखते हैं. यह गुण लोगों में खत्म होता जा रहा है. आप जैसे कुछ ही लोग हैं. जितने संतुलन और धैर्य के साथ आपने जवाब दिये, बहुत कम लोग इतना संतुलन और धैर्य बनाये रख पाते हैं."

मंत्रीजी को केंद्र-निदेशक की इस लमतरानी पर यकीन हुआ या नहीं यह कहना तो कठिन है पर इतना जरूर हुआ कि वे आगे बिना कुछ बोले प्रोर्टिको में खड़ी अपनी कार में जाकर बैठ गये. उनके बैठते ही कार खुल गयी. अभिवादन के लिए खड़े उन सबमें से किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर उन्होंने मुड़कर देखा तक नहीं. केंद्र निदेशक आते ही अपनी कुर्सी पर धम्म से बैठ गये. एक के बाद एक राहत की सांसें लेने लगे. उनके मातहत ज्यों के त्यों हाथ बांधे सामने खड़े थे. उनकी सांसें भी वैसी ही थीं. राहत से फुर्सत पाकर केंद्र निदेशक बोले, "दस-पांच दिन को तो इन मंत्रियों के फोनों से छुट्टी मिलेगी! यह कार्यक्रम क्या होता है जलजला-सा आ जाता है!"

हमीद को भी रुकी हुई सांस छोड़ने का मौका मिला, "क्या बताऊं —उस दिन पी. ए. साहब ने जो संदेश दिया था—मेरे भाई के प्रोमोशन का मामला था. मैंने फोन नहीं किया, मंत्रीजी ने आदेश नहीं दिया—लगता है आज ही आदेश हो जायेंगे—क्या होंगे, मंत्रीजी के आज के व्यवहार से अच्छी तरह समझ में आ गया."

टेलीफोन की घंटी एकाएक बजी. इस समय उसके लिए कोई तैयार नहीं था. केंद्र निदेशक बोले, "हमीद साहब, जरा देखिये तो—इस वक्त मैं फोन सुनने के कतई मूड में नहीं. इतने फोन सुने हैं कि बिना फोन आये भी कान में घंटियां बजती रहती हैं."

हमीद ने फोन उठाया, "यस सर, मैं देखता हूं.—"

निदेशक सीधे होकर बैठ गये, "किसका है?"

वह चोंगे के मुंह पर हाथ रखकर बोला, "मंत्रीजी के सचिव का फोन है. आपको पूछ रहे हैं."

"कौन मंत्री?"

"जो अभी गये हैं?"

"अभी भी कुछ बाकी बचा है क्या?" उन्होंने बुदबुदाते हुए कहा और फोन ले लिया और आवाज को तरोताजा बनाते हुए बोले, "गुड इवनिंग सर—जी मैं स्टेशन डाइरेक्टर ही बोल रहा हूं."

"सर—! सर—! सर—! मंत्रीजी बेकार परेशान हैं.—ऐसा कुछ नहीं—बहुत अच्छी रिकार्डिंग हुई है—एवन ! —भला मैं क्यों झूठ बोलूंगा. अच्छा—! अच्छा ! मैं चेक कराये लेता हूं. अगर ऐसा होगा तो एडिटिंग हो जायेगी.—कल रात को आठ बजे—! नहीं सर, इस समय कैंसिल कैसे हो सकता है—सारे हिंदुस्तान में शोर मच जायेगा—बहुत इंपोर्टेंट ब्राडकास्ट है—जी दोबारा रिकार्डिंग, उसका तो सवाल ही नहीं उठता—ठीक है, यह मैं चेक कर लूंगा. एडिटिंग में निकाल देंगे?—एक आध लब्ज की बात तो अलग होती है—वैसे सवाल जवाब नहीं निकाले जा सकते—गुड नाइट सर!" फोन रख दिया.

उनके चेहरे की हालत देखकर हमीद ने बेसबरेपन से पूछा, "क्या बात थी, सर?"

"—मंत्री महोदय चाहते हैं कल का प्रसारण रद्द कर दिया जाये —इस रिकार्डिंग में से कुछ सवाल-जवाब एडिटिंग के समय निकाल दिये जायें—"

"यह कैसे हो सकता, सर?"

"वही तो मैंने कहा कि उनमें से एक भी बात संभव नहीं!" रुककर बोले, "अब कहा गया है कि आज की बातचीत के दौरान 'राष्ट्र आत्मा' का शायद बहुत प्रयोग हुआ है. ऐसी किसी भी चीज का बार-बार प्रयोग, जो इस्तेमाल में न आती हो, प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है. उन्होंने कहलाया है उस शब्द को न रहने दिया जाये."

"लेकिन कल तो प्रसारण है, सर ! इस समय टेक्नीशियंस में से भी कोई नहीं होगा. सब जा चुके हैं! मंत्रीजी चार बजे की जगह छह बजे तो वैसे ही आये थे—"

"दौड़कर जाओ, कपूर, रामशेखन वगैरह में से जो भी हो उसे रोक लो. कहना मैंने बुलाया है." हमीद पहले तो झिझका फिर तेजी से चला गया.

केंद्र-निदेशक तेजी से कमरे में टहलने लगे. थोड़ी देर बाद आप ही आप बोले, "सारा मामला इस साली 'राष्ट्र आत्मा' की वजह से लटक गया. अगर इस्तेमाल हो भी गया तो वह बम थोड़े ही बन जायेगी और न बंदूक से गोली की तरह छूटेगी! न गाली है, न कोई ऐसा बुरा शब्द है कि लोग सुनते ही कानों में उंगलियां ठूंस लेंगे. आत्मा-वात्मा से आजकल लोग घबराते जरूर हैं पर इतना नहीं जितना मंत्रीजी घबरा रहे हैं—वैसे भी आत्मा का राष्ट्र के साथ प्रयोग हुआ है. राष्ट्र के साथ प्रयोग होने वाली हर चीज खरल होकर चूर्ण बन जाती है." इस बात पर उनके होठों पर अनायास मुस्कराहट आ गयी.

हमीद लौटा तो बोला, "सब चले गये! आपकी कार के ड्राइवर को मय गाड़ी के बस स्टैंड तक दौड़ाया भी कि शायद कपूर मिल जाये. जैसे ही कार पहुंची वैसे ही बस छूट गयी. वह लौट आया."

निदेशक के माथे पर बल पड़ गया और कदमों में और तेजी आ गयी. अगर प्रसारण में 'राष्ट्र-आत्मा' चला गया तो मंत्रीजी हम दोनों में से किसी को नहीं छोड़ेंगे. उनके खयाल से इस तरह के शब्दों का बार-बार प्रयोग राष्ट्र-हित के विरुद्ध है."

"लगता है 'राष्ट्र' मंत्रीजी का तकिया कलाम है—ऐसा तो नहीं है कि हर शब्द के साथ वे 'राष्ट्र' को 'प्रीफिक्स' की तरह प्रयोग करते हों—मैं कल सवेरे कपूर को लेकर जल्दी आ जाऊंगा और राष्ट्र-आत्मा को ढूंढ-ढूंढकर टेप से निकाल दूंगा." फिर ठहरकर पूछा धीरे से पूछा, "अच्छा तो अब मैं घर जाऊं, सर?"

हमीद केंद्र-निदेशक के उत्तर की प्रतीक्षा में उतावला बना खड़ा रहा. केंद्र निदेशक सोचकर बोले, "ऐसा करते हैं, हम दोनों रुक जाते हैं. कल मुझे मिनिस्ट्री जाना है—इसलिए जो कुछ करना-धरना है अभी कर-धर लें."

"हम दोनों सवेरे छह बजे आ जायेंगे—आपके मिनिस्ट्री जाने से पहले आपको फोन करके बता देंगे. आप कपूर के नाम मुझे एक चिट लिखकर दे दीजिए—मैं अभी जाते हुए दे दूंगा. सवेरे उसे साथ लेकर आ जाऊंगा."

"नहीं, नहीं, मिस्टर हमीद—हमें यह काम अभी खत्म कर देना चाहिए. कल पर छोड़ना ठीक नहीं. मंत्री का मामला है!"

"लेकिन सर. . ."

"मैं ड्राइवर को भेजकर अपने और आपके घर कहलाये देता हूं. वही हम दोनों के घरों से खाना भी लेता आयेगा. अपने कैरियर के शुरू में कुछ दिन तक मैंने एडिटिंग भी की है—इसलिए एडिटिंग में भी मैं तुम्हारी मदद कर दूंगा."

"लेकिन सर, ये मिनिस्टर की रिकार्डिंग है—जरा भी गड़बड़ हो गया तो जान बचानी मुश्किल हो जायेगी."

ऐसे भी शुरू हुए कथा-आंदोलन

▣ अजीत कौर

मेरे परिचित एक हिंदी के ख्याति-प्राप्त कहानीकार हैं. पहले वह किसी ऐसे शहर में रहते थे जहां साहित्यिक-सर्कल में उनकी काफी पूछ थी. फिर आ गये दिल्ली में. यहां उन्होंने देखा कि ग्रुप्स है, दल हैं, गुटबंदी है. जब तक कोई कहानीकार किसी ग्रुप का सदस्य नहीं है उसे कोई पूछता ही नहीं है. काफी परेशान रहे कुछ दिनों. सोचते रहे कौन-से दल में शामिल हों.

एक दिन चांदनी चौक में मिले. मैंने पूछा, समस्या का समाधान हुआ कुछ? कहने लगे, सोच रहा हूं कोई एक नया नारा बुलंद करके खुद ही एक दल क्यों न बना डालूं; लीडरी फालतू में मिलेगी. सो कुछ महीने प्लान बनाने में व्यस्त रहे, और हिंदी कहानी की एक धारा का एक नया नाम तराश डाला.

आजकल अभी-अभी पैदा हुए उस नये आंदोलन के लीडर हैं. ☐

(सन् 1964 में ज्ञानोदय को प्रेषित एक रपट से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"देखा जायेगा—हमें इस काम को कल पर नहीं छोड़ना है."

"तो फिर कपूर को भी बुलवा लीजिये."

"वह आफिस में ही पिये रहता है घर पर तो टब में डूबा पड़ा होगा."

"दरअसल सवेरे मेरे बच्चे को बहुत तेज बुखार था—अगर आज मंत्रीजी की रिकार्डिंग न हुई होती तो मैं आज की छुट्टी ले लेता."

". . .उसकी तबीयत के बारे में भी मालूम करता आयेगा—डोंट वरी."

● गिरिराज किशोर

हमीद ने लंबी सांस ली तथा शरीर और मन ढीले छोड़ दिये. थोड़ी देर तक वह बालों को नोचता रहा. ड्राइवर को उसी के सामने बुलाकर निदेशक ने अच्छी तरह से समझा दिया. ड्राइवर का भी मुंह बना. उसने कहा भी, "सर, रात वाला ड्राइवर ड्यूटी पर आ गया है. . ."

उसकी बात काटकर वे तत्काल बोले, "मुझे मालूम है! तुम जल्दी जाओ."

पहले वह कुछ कहने के लिए खड़ा रहा फिर चला गया.

हमीद और केंद्र-निदेशक दोनों कमरे में चुप थे. केवल निदेशक बीच-बीच में उंगलियों से मेज बजाने लगता थे. ज्यादा हुआ उठकर टहलने लगे. काफी देर बाद वे सामान्य हो पाये. सामान्य होने पर बोले, "हमीद साहब, यह नौकरी है. वह भी राजधानी की नौकरी. यहां हर मंत्री, हर सेक्रेट्री बॉस-उल-बॉस है. अपने तो सब हैं ही. इसीलिए बच्चे और परिवार वगैरह न चाहते हुए भी दोयम नंबर पर चले जाते हैं. चाय पीजिये और राष्ट्र-आत्मा को ग्वाले की तरह हेरिये. जरूरत पड़ेगी तो रात की ड्यूटी पर आये लोगों में से ही किसी से मदद ले ली जायेगी. शेर मुंह बाये खड़ा हो तो आराम करने की जगह उसका मुंह मोड़ने की कोशिश करना ही अक्लमंदी होती है."

चाय आयी पी गयी. हमीद उखड़ा-उखड़ा रहा. पी चुकने के बाद बोला, "सर, इस समय दामोदरन की ड्यूटी है. उसे साथ ले लेता हूं. हम दोनों एक बार पूरा टेप सुन लेंगे तो अंदाज लग जायेगा कि 'राष्ट्र-आत्मा' कहां है और कहां नहीं है—फिर निशान लगाकर आपको सुनवा दया जायेगा."

"ठीक है, इतने मैं रिलेक्स किये लेता हूं."

"इत्तफाक से अगर वह न हुई तो हम लोग जल्दी घर जा सकेंगे!" उसने बच्चों की तरह संभावना पर निर्भर करते हुए कहा.

केंद्र-निदेशक हंस दिये, "मि. हमीद, आप भी क्या बच्चों वाली बात करते हैं! जिसने इस्तेमाल किया, जो उसके खतरों को समझता है—जब वह स्वयं कह रहा है तो आपके यह सोच लेने से काम कैसे चल सकता है कि 'राष्ट्र-आत्मा' उसमें से निकलकर भाग गयी? 'राष्ट्र-आत्मा' है, मजाक नहीं! इतने बड़े राष्ट्र की आत्मा कितनी बड़ी होगी उसका आपको कोई अंदाजा है? मैं इसलिए रुका हूं. दो की राय दो की होती है. वैसे भी जिम्मेदारी तो मेरे ऊपर ही है."

"कई बार ऐसा होता है कि कार्यक्रम में हिस्सा लेनेवाला किसी-किसी शब्द या वाक्य के प्रति इतना 'कांशस' हो जाता है कि बिना इस्तेमाल किये भी उसे लगता है कि इस्तेमाल हुआ है. कहीं उनके साथ भी ऐसा ही न हुआ हो!"

"आप फिर वही बात कर रहे हैं. लेखक और राजनीतिज्ञ दोनों शब्दों का पेशा करते हैं. लेखक का शब्द के साथ-साथ अर्थ से भी नाता होता है. दूसरे का अर्थ से कोई लेना-देना नहीं. शब्द को ढेलों की तरह इस्तेमाल करता है. बड़ा ढेला, छोटा ढेला है. निशाना देखा और फेंक दिया. इसलिए आपका यह समझना नामाकूल है कि वहां जो कहा गया है, कहने वाले को उसका मालूम नहीं. बस फर्क इतना ही है कि पहले उसने उछाल दिया अब वापस लेना चाहता है."

"मेरा मतलब यह नहीं था, सर! दरअसल हम लोगों का यह माध्यम नया भी है और फर्क भी. इसके साथ दो-चार होने में लोगों को मुश्किल पड़ती है. मैंने सोचा कि यही उनके साथ भी हुआ होगा."

"अच्छा बातें छोड़िए, दामोदरन को लेकर टेप रन करके एक बार चेकिंग कर लीजिये." उन्होंने टेप उठाकर पकड़ा दिया. अभी वह बाहर ही रखा था. अलमारी के अंदर नहीं गया था.

हमीद को दामोदरन रास्ते में ही मिल गया. वह हाजरी नोट कराने ड्यूटी रूम जा रहा था. उसने दामोदरन को देखकर पूछा, "घर से अभी आ रहे हो क्या?"

"बस आ ही रहा हूं—लेकिन आज आप इतनी देर तक यहां कैसे?"

"तुम्हारी तलाश में?"

"बोलिये, क्या हुक्म है?"

"रतजगा करना है."

"काहे हमीद भाई?"

"मंत्रीजी का रिकार्डिंग हुआ है—उसके प्लेनचेट पर आत्मा खोजनी है. नाम है 'राष्ट्र-आत्मा'."

"समझा नहीं."

"ड्यूटी-रूम होकर आओ तो बताता हूं. . . यहीं इंतजार कर रहा हूं."

"लेकिन यह आत्मा वाली बात क्या कह रहे थे?"

"यह बाद में समझना! यूं जाओ और यूं आओ. बड़े साहब भी आज हम लोगों के साथ रुके हैं."

दामोदरन फटाफट गया और हाजरी लगाकर लौट आया. आते ही बोला "अब बोलो हमीद भाई."

"चलो, बताते हैं."

दामोदरन साथ हो लिया. हमीद फिर चालू हो गया, "मंत्रीजी को शक है कि सवाल जवाब के दौरान एक दुधारू गाय हिरा गयी है. उसके बेतरतीब सींग उग आये हैं. इसलिए डर रहे हैं कहीं उत्पात न कर दे. बेतरतीब सींगों वाली उस गाय का नाम है 'राष्ट्र आत्मा'! बातचीत में उसका शायद बेसाख्ता प्रयोग हुआ है. अब कहते हैं कि इस तरह के शब्द बेमतलब प्रतिक्रियावादी और खतरनाक होते हैं. उन्हें खोज-खोजकर निकाल दो."

"अपच हो जाने का खतरा है क्या?"

"अपच न सही, सरसाम हो सकता है!" दोनों जोर से हंस दिये.

रात के वक्त वे ही लोग रहते हैं जिनकी डयूटी होती है. अतः वहां सन्नाटा और भी ज्यादा हो जाता है. ध्वनिमुक्त स्टूडियो में भी हंसने पर आवाज चाहे बाहर ना जाये हंसने का वातावरण तो बनता ही है. उन दोनों को लगा शायद बाहर भी लोग हंसे होंगे. जल्दी-जल्दी आकर्णक यानी हेडफोन लगाये और टेप चालू कर दिये. उनकी नजर तस्वीरों पर कम और ध्यान आवाज पर ज्यादा था. जहां उन्हें जरा भी शक होता कि यहां 'राष्ट्र आत्मा' हो सकती है वे टेप को दोहरा कर सुनते. फिर रोककर आपस में बात करते, नतीजे पर पहुंचते. जब पहुंच जाते तो आगे बढ़ते. बातचीत करते समय हंसी मजाक का मौका भी मिल जाता. दामोदरन कुछ ज्यादा चुलबुला था. उसे ही ऐसी बातें सूझती थी, "ऐसा तो नहीं कि एवोपरेट हो गयी हो— क्या यहां से उड़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर वहीं नहीं जा सकती जहां से आयी होगी? उसके इस तरह भाग निकलने से ऐसा तो नहीं कि कहीं मुल्क ही तहस-नहस हो जाये? कहो तो घोषणा करा दें कि टेप से 'फरार राष्ट्र आत्मा' को जिंदा या मुर्दा पकड़कर लाने वाले को खिल्लत बक्शी जायेगी."

"अरे नहीं यार, कुछ भी हो इस मुल्क की कोई भी चीज इतनी आक्रामक और हिंसक नहीं हो सकती कि मुल्क को खतरा पैदा हो जाये. बड़े मजबूत शॉक एब्जरवर्स हैं. हां, कोई गैरमुल्की आत्मा रास्ते में मिल गयी हो तो बात दूसरी है. अगर अकेली पड़ गयी होगी तो मारी-मारी फिरेगी. जैसा कि अमूमन होता है."

"तो मंत्रीजी इतना परेशान क्यों हैं?"

"आजकल विदेशी ताकतें अहिंसक से अहिंसक चीजों को भी आतंकवादी बनाने में लगी हैं ना!"

"इसका मतलब मंत्रीजी उसके खतरों को पहचानते हैं."

"हो सकता है बाद में किसी ने बता दिया हो!" फिर बोला, "छोड़ो, इतना दिमाग क्यों खपाते हो. इस वक्त हमारे सोचने और करने का दायरा बहुत सीमित है—मात्र उस कबूतर को खोजना है जो छूटकर जगह-जगह जाकर बैठता फिर रहा है और पंजों के निशान छोड़ गया है. डर है कहीं अपने पंजों के निशानों के कारण वह बाज न समझ लिया जाये! बड़े साहब एडिटिंग के द्वारा उन निशानों को मिटाने के लिए तैयार बैठे हैं. . ."

"बड़े साहब यानी केंद्र-निदेशक?"

"जी ऽ ऽ, आपको कोई एतराज? बीवी और मालिक अगर कुछ ऊंच-नीच बक दें तो मियाओं और मातहतों की जिंदगी अजाब हो जाती है. चाहे अपने आप में वे कितने भी बड़े क्यों न हों. मंत्रीजी चलते-चलते कुछ वचनामृत केंद्र-निदेशकजी के कानों में उड़ेल गये. वे ही सब पत्थर बनचर साहब की पीठ पर लदे हैं. . ."

निदेशक एकाएक तूफान की तरह अंदर दाखिल हुए. दोनों लोग झटके से उठकर खड़े हो गये. साहब की आवाज उत्तेजना के कारण कांप रही थी, "आप लोग गप्प लड़ा रहे हैं. आधा घंटे का टेप सुनने में डेढ़ घंटा से ज्यादा लग गया. दो बार फोन आ चुका. मंत्रीजी यह जानने के लिए उतावले हैं कि 'राष्ट्र आत्मा' का क्या हुआ? बची या काम आ गयी?"

"सर, अभी तक आधे में पहुंचे हैं—जहां भी शक होता है कि यहां होगी, उसे पकड़ने के लिए लौट-लौटकर पीछे जाना पड़ता है. एक-एक सेंटीमीटर पार करने में दस पंद्रह मिनट लग जाते हैं. . ."

"कुछ पता चला?"

"माफ कीजिए सर, हो तो मिले!"

केंद्र-निदेशक की आवाज ऊंची हो गयी, मंत्रीजी क्या झूठ बोल रहे हैं? उन्हें क्या इतना भी मालूम नहीं कि उन्होंने क्या कहा? मुझे यह उम्मीद कतई नहीं थी कि आप लोग इतनी लापरवाही बरतेंगे? आप जानते हैं कि चाहे और कुछ भी हो, वे पक्के राष्ट्रवादी व्यक्ति हैं"—हमीद ने गर्दन नीची कर ली. वे कहते रहे, "उन्होंने गुलामी के विरुद्ध राष्ट्रमत बनाने में जिंदगी लगा दी. 'राष्ट्र आत्मा' उनके लिए आस्था और विश्वास की वस्तु है." इस बार हमीद के होंठ भी हल्के से फैल गये.

"हो सकता है. . ." कहकर दामोदरन ने रुककर उनकी ओर देखा और बोला, "शायद बाद के हिस्से में हो."

"होगी तो वह शुरू से ही होगी! यह कैसे हो सकता है शुरू में न हो और बाद में टपक पड़े."

"सर, हम सुन ही सुन रहे हैं—देख बिल्कुल नहीं रहे."

"आप दोनों काम कीजिए! ऐसी चीजों को खोजने के लिए आंख और कान दोनों खुले रखना जरूरी होता है."

"जी!"

"जी-वी कुछ नहीं!" वे फिर उखड़ गये. दो ही तो शब्द हैं, परमात्मा नहीं कि खोजे न मिले. शब्द भी ऐसे जिनके अंत में 'ट वर्ग' और 'म वर्ग' का प्रयोग किया गया है. कान में ठक से लगते हैं." हमीद और दामोदरन इतना तब नहीं थके थे जितना इतनी-सी देर में थक गये थे. केंद्र-निदेशक जाते-जाते कहते गये, "आप लोग ध्यान से सुनें और जैसे ही मिले मुझे फौरन आकर खबर दें. इस काम में घंटे भर से ज्यादा नहीं लगना चाहिए."

उनके चले जाने के बाद दामोदरन ने हमीद से कहा, "हमीद साहब, ऐसा नहीं हो सकता कि थोड़ी देर के लिए साहब के फोन को आराम पहुंचा दिया जाये. न चाबी भरी जायेगी और न उनका यह रिकार्ड हमारे सिर पर बार-बार बजेगा."

"छोड़ो यार, काम करो और छुट्टी पाओ! सुई अंदर और तलाश बाहर करेंगे! विकल्प ही क्या है?"

"आप बहुत थके हुए लग रहे हैं. आप आराम कीजिये, मैं पता लगाता हूं—है या उड़ंछू हो गयी."

हमीद उसी कुर्सी पर पीठ सीधी करके उठंगा हो गया. दामोदरन आकर्षक यंत्र लगाकर जुट गया. बीच-बीच में हमीद की बेचैनी बढ़ती थी तो वह स्क्रीन पर देखने लगता था. दामोदरन ने वह पूरा टेप घंटे भर में निबटा दिया. हमीद उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था. उसने इशारे से पूछा—'मिली?' उसने पूरा पंजा फैलाकर डुगडुगी की तरह 'ना' की मुद्रा में हाथ हिला दिया.

हमीद चौंककर बोला, "क्या कह रहे हो यार? यह कैसे हो सकता है? कोई रुपया-पैसा थोड़े ही है कि कोई चुरा ले गया होगा—और चुरा भी कब कैसे ले जाता."

दामोदरन ने उसे बैठाते हुए कहा, "इसमें इतना चौंकने की कोई बात नहीं. मैं दावे से कहता हूं कि मंत्रीजी जब वहां बोल रहे थे तो वह उनके पास मीलों तक नहीं थी! हां, अलबत्ता बलात्कार, भ्रष्टाचार, बेईमानी, शोषण, आतंकवाद, एय्याशी, बेरोजगारी वगैरह सब यथावत मौजूद हैं."

"ऐसा तो नहीं, ये सब शब्द हमारे दिमागों में घुसे हुए हों और टेप में भी सुनाई पड़ रहे हों?"

एक और बोधिसत्व : राहुल जी

■ विष्णु प्रभाकर

राहुलजी ने हिंदी को जितना कुछ दिया, वह किसी एक व्यक्ति की क्षमता से बहुत अधिक है. वह अपनी अगाध विद्वता, व्यापक ज्ञान, अद्भुत मेधाशक्ति, अति साहस और कार्य करने की अटूट क्षमता के कारण तो अमर रहेंगे ही, लेकिन इसलिए निश्चय ही चिरस्मरणीय रहेंगे कि वह विनय के अवतार थे. 'विद्या विनयेन शोभते' के वह मानो साकार प्रतीक थे. विद्वता और यश के बोध को वह कभी स्वीकार नहीं कर सके. जेल, जंगल और राजमहल सब कहीं वह एकरस रहते थे. 36 भाषाएं जानने वाले इस महापंडित का सरस आतिथ्य किसी अभागे ने ही नहीं पाया होगा. वह संभवतः पहले व्यक्ति थे, जिनका कार्यक्षेत्र प्रांत और सीमाओं को लांघकर विश्व के अनेकानेक देशों में फैला पड़ा है. यूरोप और एशिया से अनेक विश्वविद्यालयों में वह सफलतापूर्वक अध्यापन का काम कर चुके हैं. मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा भी पायी है. कर्नल सज्जनसिंह ने अपनी 'लद्दाख यात्रा की डायरी' में एक स्थान पर लिखा है कि जन कोलाहल से बहुत दूर दुर्गम पर्वत-मालाओं में रहनेवाले व्यक्तियों ने उन्हें बताया था कि आप लोग हमसे इतना परहेज करते हैं, लेकिन कई वर्ष पहले यहां राहुल नाम का एक आदमी आया था, जो हमारे साथ ही खाता-पीता और बोलता-बतियाता था. □

('मेरे हमसफर' से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दामोदरन हंस दिया, "सिर्फ ये ही हैं, आपको इन्हीं से संतोष करना पड़ेगा. आप चाहें तो इन्हीं सबको आधुनिक 'राष्ट्र आत्मा' मान लें."

"संतोष की बात नहीं, रोटी-रोजी की बात है."

"चलिये हम चलकर साहब को बताये देते हैं कि उसका कहीं अता-पता नहीं चला! आप कहें तो थाने में रपट लिखा दें. या ढिंढोरा पिटवायें."

"फिर वे कहेंगे कि..."

"जब अनकहा सुनने के लिए बाध्य हैं तो कहा हुआ भी सुन लिया जायेगा." दामोदरन ने बीच ही जड़ दिया.

केंद्र-निदेशक पहले तो उनकी बातें सुनकर बमके. उन्हें लगा कि उनके खिलाफ उन दोनों की यह साजिश है. लेकिन हमीद और दामोदरन के बार-बार समझाने पर वे मंत्रीजी के सचिव से फोन पर बात करने के लिए तैयार हो गये. जब घंटी जा रही थी तो केंद्र निदेशक के माथे पर पसीने की बूंदें थीं और जब उधर से हैलो हुई तो उन्होंने हाथ रखकर एक बार फिर पूछा, "तो उनसे कह दूं—ऐसा तो नहीं आप लोग मजाक कर रहे हों?"

"नहीं सर, आप हम दोनों का नाम लेकर कह दीजिए." दामोदरन ने तपाक से कहा.

केंद्र-निदेशक ने थूक निगलकर पहले खंखारा फिर बोलना शुरू किया, "सर, मैं स्टेशन डाइरेक्टर बोल रहा हूं!" फिर सांस लिया, "यस सर, हमीद साहब और मि. दामोदरन ने पूरा टेप चेक कर लिया है. एक बार नहीं कई-कई बार! उन्होंने बताया है कि न शुरू में है, न बीच में और न आखीर में. पिछले तीन घंटों से इसी में लगे हैं—जी, आश्चर्य की बात तो है ही!... मंत्रीजी गलत थोड़े ही कहेंगे. गलतफहमी तो नहीं हो गयी?... बलात्कार, भ्रष्टाचार, बेईमानी, आतंकवाद, ऐय्याशी, बेरोजगारी, गरीबी वगैरह सब कुछ है—वही नहीं है! जी, मैं होल्ड कर रहा हूं—आप बात कर लें—नहीं ऐसा कैसे हो सकता है?"

हाथ रखकर फिर उन दोनों की तरफ मुखातिब हो गये, "वे पूछ रहे हैं टेप तो नहीं बदल गया?"

"उसमें मंत्रीजी की शक्ल भी तो है!"

"वही तो मैंने भी कहा"—वाक्य बीच में रह गया. दूसरी तरफ से बात चालू हो गयी थी, "मैंने फिर से जानकारी कर ली—टेप वही है. उसमें शक्ल भी तो हैं ना! वो तो नहीं बदल सकतीं. सेबोटेज की तो बात ही नहीं उठती, मैं पूछता हूं—होल्ड करें!" हमीद की तरफ इशारा करके, "पूछ रहे हैं क्या 'आत्मा' है?"

"शायद आत्मा भी नहीं—क्यों दामोदरन?" दामोदरन ने हां में हां मिला दी.

केंद्र-निदेशक ने सचिव को बता दिया, "आत्मा भी नहीं!... यह तो मुश्किल होगा. मंत्रीजी को वीडियो-टेप सुनाने के लिए तो डी.जी. और मिनिस्टर से इजाजत लेनी होगी. दरअसल यह प्रसारण महत्त्वपूर्ण प्रसारणों की श्रेणी में आता है—ठीक है मैं स्वयं भी एक बार चेक कर लूंगा. कल सबेरे फोन पर बता दूं तो कोई हर्ज है? अच्छा तो मंत्रीजी सबेरे पांच बजे की फ्लाइट से विदेश जा रहे हैं—मैं कोशिश करूंगा कि उनके जाने से पहले फोन कर दूं—मैंने नंबर नोट कर लिया—आपके घर का ही है ना! ठीक है चार बजे से पहले फोन कर दूंगा. गुडनाइट सर!"

थोड़ी देर वे गमसुम बने रहे फिर बोले, "चलिये, देखा जाये. पता नहीं उसमें ऐसा कौन-सा कोड छिपा है जो मंत्रीजी की नींद हराम किये है?"

"आप खाना खा लीजिए, हम एक बार फिर चेक किये लेते हैं."

"खाना खाने से ज्यादा खाना खाते रहने का रास्ता बनाये रखना जरूरी है. चलिये, चलकर फिर कांटा डाला जाये."

केंद्र-निदेशक हमीद और दामोदरन की मदद से रात भर टेप की जांच-पड़ताल करते रहे. हर उस शब्द को वे बार-बार सुनते थे जो 'रा' या 'आ' से शुरू होता था. उस शब्द को कागज पर लिखकर उसके अर्थ के बारे में सोचते थे. यह निश्चित हो जाने पर ही आगे बढ़ते थे कि इन शब्दों का राष्ट्र आत्मा या आत्मा से दूर-दराज का भी नाता नहीं. हमीद और दामोदरन मंत्रीजी के द्वारा बोला गया एक-एक शब्द लिखते जा रहे थे. बीच-बीच में लिखा हुआ मिलाते भी जाते थे.

रात को दो बजे के बाद निदेशक ने प्रश्नकर्त्ताओं द्वारा बोली गयी इबारत चेक करना शुरू किया. साढ़े तीन बजे के बाद वे एकाएक चिल्लाये, "मिल गयी. . मिल गयी. ."

हमीद और दामोदरन ने चौंक कर देखा. केंद्र-निदेशक खामोश और स्थिर बैठे थे. आंखें स्क्रीन पर थीं. टेप रुक गया था. हमीद ने उसी स्थल को दोबारा चलाकर देखा. उन्हें लगा कि बहुत दूर से आने वाली... किसी श्रोता की... दबी हुई... वह एक मद्धम-सी चीख थी...! □

● 507, आई. आई. टी., कानपुर (उ.प्र.)

लघुकथा

शिकंजा

▣ लक्ष्मीनारायण वशिष्ठ

वे मंत्रीजी के कूपे के सामने खड़ी हो गयीं. उनकी खूबसूरती तथा वेश-भूषा पर आसपास का वातावरण मुग्ध हो रहा था. हर कोने से वे आधुनिका दिख रही थीं. शानदार नामिदर्शना साड़ी, स्लीव लेस लोकट ब्लाउज, वेनिशिंग क्रीम युक्त सेब-से कपोल, होंठों पर लिपस्टिक, कानों तक लंबी-लंबी पारे-सी चंचल आंखें, तोते जैसी आकर्षक नाक, बॉब कट बाल, चिबुक पर काला उत्तेजक तिल... पूरे शरीर से उठती गुलाब-मोगरा की सुगंधियां! लग रहा था, जैसे कोई अप्सरा सीधी देवलोक से उतरकर चली आ रही हो.

भीड़ का हर व्यक्ति किसी न किसी बहाने से उधर ललचायी दृष्टि से देख लेता था. उनका सौंदर्य जड़ को भी स्फूर्त कर रहा था.

तभी मोहन भोग में कंकड़ के समान एक टोपी वाले मूर्ख ने उन्हें टोक दिया, "मैडम! इस कूपे में तो मंत्रीजी का आरक्षण है. आप अपने कूपे का नंबर शायद भूल रही हैं."

उन्होंने उस बेवकूफ को बड़ी हिकारत से देखा और आंखें तरेर-कर बोलीं, "मालूम है, यह मंत्रीजी का कूपा है और यह भी जानती हूं कि किस मंत्री का है. उन्हें जाकर बता दो कि इंजीनियर मि. सक्सेना की पत्नी उनके कूपे में बैठ गयी हैं."

टुप्पा वहां से चुपचाप खिसक गया.

"देखना डार्लिंग! शिकंजा काफी मजबूत रखना. बस, हाथ-पांव फड़फड़ाता रहे स्साला! मेरा प्रमोशन इसी खूंसट के साइनों से होगा." सक्सेना ने उनका हाथ तथा अपनी आंख दबाते हुए धीरे से कहा.

"चिंता मत करो डियर! यहां से दिल्ली दो सौ किलोमीटर है. इसके प्राण ही शेष रहेंगे, शेष सब कुछ मेरे शिकंजे में होगा. जब सावित्री ने यमराज से सत्यवान के प्राण वापिस ले लिये थे तब यह तो... ! मेरा सौंदर्य कामदेव को भी साइन करने पर मजबूर कर सकता है. तुम तो यह समझ लो कि तुम्हारा प्रमोशन हो गया और दिल्ली में ही हो गया." उन्होंने विश्वास पूर्वक मुस्कराते हुए कहा.

"अच्छा, बाय! बाय!! दिल्ली स्टेशन पर मिलेंगे!" कहती हुई वे साधिकार मंत्रीजी के कूपे में घुस गयीं. □

● शा. उ. मा. विद्यालय, इंदरगढ़, जिला—दतिया (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वक्त भालेराव

रमेशचंद्र शाह

छत पर एक आदमी. आदमी के ऊपर आसमान—लाल-पीला और लगातार संवलाता हुआ. आदमी के हाथ से छूटा अखबार कभी से फर्श पर फड़फड़ा रहा है और जिस जगह गिरा था वहां से काफी दूर खिसक गया है. हवा के हर झोंके के साथ वह थोड़ा सिर उठाता है और कुछ और आगे खिसक जाता है. . . रोज का चस्का, मगर आज एक अक्षर भी तो पढ़ा नहीं. वह सहसा आगे बढ़कर एक जोर की लात जमाता है जैसे अखबार नहीं, फुटबाल हो.

हर थोड़ी देर में पक्षियों का एक रेला-सा उमड़ आता और एक नामालूम-सा कलरव करता उसके सिर पर से गुजर जाता. अब जाने कितनी देर से बिलकुल खामोश है आसमान. खाली और निःस्पंद.

अचानक आदमी चौंक गया है. एक गंदी भारी फड़फड़ उसके पास आती जा रही है. सिर उठाकर देखता है—अरे, कितना बड़ा और काला है ! यही एक कैसे पीछे छूट गया ? इतने सारे रेलों में क्या कहीं भी उसके लिए जगह नहीं ? वे उतने सारे पक्षी आखिर कहां से उमड़े आ रहे थे और किधर को भागे जा रहे थे ? क्या कर रहे होंगे अब वे ? बगैर दीया-बाती के उनका काम कैसे चलता होगा ? वे सब एक ही पेड़ के वासी होंगे या अलग-अलग पेड़ों के? पंद्रह झुंड गिने थे. क्या पंद्रह पेड़ों के होंगे ? उस दिन कौन बता रहा था कि भरतपुर के पक्षी-विहार में पक्षी साइबेरिया तक से आते हैं. बर्फ गिरने वाली है, इसका उन्हें बहुत पहले से पता चल जाता है. और उनका दिशा-ज्ञान ! कहां साइबेरिया और कहां भरतपुर ! . . . ऐसे ही इन लोगों को अपनी मौत की आहट भी मिल जाती होगी. . .

छतें एकदम खाली हैं. इतने सारे तो लोग थे अभी. कहां गये, कब गये कुछ पता ही नहीं चला. सामने की छत पर कितने सारे बच्चे खेल रहे थे. वे भी चले गये ? मुन्नू भी आता होगा—नीचे जाऊं क्या ? दरवाजा बंद देखेगा तो डर जायेगा अंधेरे में. उसे क्या पता मैं यहां हूं. अंधेरे में बच्चे डर जाते हैं. क्यों डर जाते हैं ?

"यू नॉटी ब्वॉय, कम हियर. . ." मिसेज कापड़िया अपने कुत्ते को अंग्रेजी सिखा रही हैं. इन्हें क्या अपनी इकलौती बच्ची की भी याद नहीं आती होगी ! कमाल की औरत हैं. बरसों की लड़ाई के बाद कितनी मुश्किल से पायी लड़की को होस्टल के हवाले कर दिया—वह भी सैकड़ों मील दूर. अकेली अपने पिल्ले के साथ रह रही हैं. एक शौक आजकल और पाल लिया है—थिएटर का. क्या नाम था उस नाटक का. . . अभी पिछले हफ्ते तो देखा था. . . हां, 'प्रेत'. उसमें क्या बनी थीं ये ? . . . याद नहीं आ रहा. बड़ा डरावना-सा नाटक था.

आदमी को लगा जैसे हवा के झोंके के साथ आरती के घंटों की आवाज आयी. सचमुच, हां सचमुच ही तो. कभी भी तो नहीं सुनायीं देती. फिर आज कैसे सुनायी दे गयी ? कितनी दूर है बिड़ला मंदिर ! . . . आज वहां खास चहल-पहल दीखती है. न्यू मार्केट भी जगमगा रहा है. इतवार के दिन तो बाजार में चलना भी भारी पड़ जाता है. खचाखच भीड़ होगी और उसी भीड़ में कहीं माया और मुन्नी भी होंगी. या तो आटा पिसा रहे होंगे या खील-खिलौने खरीद रहे होंगे या आॅटो तलाश रहे होंगे. वो तेज ढलान वाली सड़क. . . कितनी दुर्घटनाएं हो चुकी हैं उस पर ! उसे नहीं भेजना था. खुद ही जाना चाहिए था. मेरी तबीयत ठीक नहीं, पर इतनी खराब भी नहीं कि बाजार भी न जा सकूं. डाक्टर के यहां मेरा नंबर आ गया होगा क्या ? वे लोग आ जायें तो जाऊं. नौ बजे से पहले तो भीड़ छंटने से रही. . . कहीं फिर से फीस तो नहीं मांगेगा ? . . . . "लेटिए. . ." वह कहेगा. "कुहनी मोड़िए. . ." वह कहेगा. बतायेगा कुछ भी नहीं. आप बकते चले जाइए, वह 'हां-हूं' तक नहीं करेगा.

"डाक्टर साहब, ये क्यूं होता है ? कुछ परहेज-वरहेज बताइए."

"आप ये नंबर दो वाली दवाई चलने दीजिए और ये कैप्सूल नये लिख रहा हूं, इन्हें पंद्रह दिन तक लीजिए और फिर हाल बताइए." हाल सुनने की तुम्हें फुरसत हो तो बताऊं. . . मैं जाऊं ही नहीं तो क्या होगा ? क्या कोई फर्क पड़ेगा ? नहीं, माया नहीं मानेगी. वह तो साथ चलने को कह रही थी. उसे भरोसा ही नहीं होता कि मैं अपनी बीमारी तक ठीक से बयान कर पाऊंगा. अरे, बयान तो उससे करो जो बयान सुनने को तैयार हो. . .

आदमी टकटकी लगाये न्यू मार्केट की तरफ देख रहा है. उस ढलान वाली सड़क को. एकाएक उसे वे रोशनियां बड़ी मुलायम-मुलायम-सी लगने लगी हैं. दिवाली के दिनों जैसी. . . जब बिजली नहीं आती थी. . . पूरे घर में पिसे चावल के घोल से गेरू लिपी जमीन पर छोटे-छोटे पैर आंक दिये जाते. . . . ठेठ दरवाजे की देहरी तक. . . और मां कहती, 'यह लक्ष्मीजी के पैर हैं.' मगर लक्ष्मी-जी के रास्ते में शायद हमारा घर

भालेराव को देख के उनकी उम्र का अंदाज लगाना मुश्किल है. उम्र आखिर उतनी ही तो दिखायी देगी जितनी खुद आदमी को भीतर से महसूस होगी जब आदमी को लगे ही नहीं, मैं चालीस साल जी चुका तो वह चालीस का दिखेगा कैसे?—उम्र, इच्छा, महत्वाकांक्षा और व्यक्ति के गिर्द पनपते परिवेश के संदर्भ में—कभी जीवन से आगे और कभी पीछे रह जाने की ऊहापोह को झलत आदमी की कहानी . . .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता ही नहीं था. . . अभी भी वहां बने होंगे वे पैर. . . उसी तरह. . और अभी भी ईख के टुकड़ों से बनी लक्ष्मीजी उसी तरह घूंघट काढ़े बैठी होंगी—भीतर देवताथान में. . . .

"पापा !" गुन्नू नीचे से आवाज दे रहा है. माया अभी तक क्यों नहीं आयी ? दीये भी नहीं जलाये किसी ने. इस मनहूस कालोनी में दिवाली भी मनहूस हो जाती है. बम-पटाखे चाहे जितने फोड़ लो. अभी कुछ ही देर में यहां बैठना हराम हो जायेगा.

कहानी के नायक का नाम मालेराव रहे तो कैसा ? उसमें नायक का गुण एक नहीं. कहानी भी उसकी. . आपने देख ही लिया... जरा आंकी-बांकी चलती है और कहानी भी कितनी ? बस, एक दिन. . . . बल्कि एक दिन के भी एक छोटे-से हिस्से की. फिर भी आप यकीन मानिए, वह आदमी है, पतिंगा नहीं. पतिंगे की जिंदगी से मेरा मतलब सिर्फ उस चीज से ही नहीं है जिसे 'फास्ट लाइफ' कहा जाता है. . . इतना तो आप समझ ही गये होंगे.

उसे डाक्टर के पास जाना था. उसका नंबर उनचासवां था. अब तक शायद निकल भी गया होगा. हो सकता है, वह जाये ही नहीं. दीवाली वैसे कल है. उसे डाक्टरों से भी उतनी ही नफरत है जितनी पटाखों से.

लंबा कद, इकहरा बदन. बाल एक भी सफेद नहीं. थोड़ा झुक कर चलने की आदत. पेशे से संगीत-शिक्षक. शौक, छत पर चहलकदमी. घर में बीवी और तीन बच्चे. जरा उम्र का अंदाज लगाइए.

मालेराव को देख के उनकी उम्र का अंदाज लगाना मुश्किल है. उम्र आखिर उतनी ही तो दिखायी देगी जितनी खुद आदमी को भीतर से महसूस होगी. जब आदमी को लगे ही नहीं, मैं चालीस साल जी चुका तो वह चालीस का दिखेगा कैसे ?

सुनते हैं, गवैये पैदाइशी होते हैं. पैदाइशी नहीं भी, तो ठेठ बचपन से सुरों के पीछे पड़ जाने वाले होते हैं. पर हमारे मालेराव के साथ, सुना, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ. वे जब बीसवां पार कर चुके तब पहली बार एक सुबह उन्हें अचानक इलहाम हुआ कि उन्हें तो गवैये के सिवा कुछ बनना ही नहीं है. बस, इस इलहाम के साथ ही वे मेडिकल कालेज से फूट लिये. सभी ने उन्हें 'पागल' कहा. मगर मालेराव इस पागलपन के पीछे ऐसे हाथ धो के पड़े कि क्या पांच बरस के अलाउद्दीन खां पड़े होंगे. उन्होंने मान लिया कि वे अभी सिर्फ पांच बरस के हैं. कुल पांच बरस में वे पक्के गवैये बन गये और इस तरह जो पंद्रह साल की फांक उनकी असली और नकली उम्र के बीच तब से पड़ी तो वह तब तक पड़ी रही जब तक इसी संगीत के चक्कर में वे एक जगह अपना दिल नहीं दे बैठे. अब चूंकि आधे-अधूरे मन से कोई काम करना मालेराव जानते ही नहीं, इसलिए प्रेम का पाठ भी उन्होंने उसी जुनून के साथ पढ़ा. मगर जब चरमकोण आ पहुंचा और सचमुच शहीद होने की घड़ी आयी तो मालेराव पीछे हट गये. पीछे हट गये, यह मैं उन्हीं की बात कह रहा हूं. मैं तो नहीं मानता कि मालेराव सचमुच पीछे हटे होंगे. मैं तो उन्हें इस पूरे प्रकरण में मालेराव की ही भूमिका में देखता हूं. आखिर आदमी, आदमी ही होता है : पतिंगा जानते-बूझते वह कैसे और क्यों बनेगा ? मगर मालेराव हैं कि अभी तक भी बख्शते नहीं खुद को. इस खामखाह के अपराध-बोध के बावजूद मालेराव के सारे कल-पुरजे सलामत रहे आये और जिंदगी उनकी बदस्तूर चल रही है. हां, उस हादसे से उबरते-उबरते उन्हें कम से कम पांच साल तो लगने ही थे और लगे. लिहाजा पंद्रह साल के बजाय सिर्फ दस साल उनकी उम्र घटी, यही मानना ठीक होगा. यानी वे हैं तो चालीस के, पर मन से सिर्फ तीस के हैं और इसलिये लगते भी तीस के ही हैं.

मालेराव के यहां दीये जल रहे हैं. इसका मतलब, उनके बीवी-बच्चे बाजार से लौट आये हैं. हो सकता है अब मालेराव उस डाक्टर के यहां हो ही आयें. हां, मालेराव को पेट की बीमारी है और थोड़ी-थोड़ी सांस की भी. बीमारी भी उसे कैसे कहें जब वह बारह साल से साथ लगी है और आदत जैसी बन गयी है. परहेज वे कोई खास पालते हों, ऐसा भी नहीं लगता. जिस दिन कुछ ज्यादा ही तकलीफ बढ़ जाती है, मालेराव छुट्टी ले लेते हैं और एक होमियोपैथ के यहां हो आते हैं. यूं दिल से वे न तो होमियोपैथी में यकीन करते हैं, न ऐलोपैथी में. दिल का जहां तक सवाल है, वे सिर्फ नेचरोपैथी में यकीन करते हैं. पर बस, यकीन भर करते हैं. यकीन के बाद भी कुछ करना होता है, यह मालेराव शायद नहीं मानते. लिहाजा बीमारी न तो ठीक होती है, न पहले से ज्यादा बिगड़ पाती है. जहां थी, वहीं बनी रहती है.

परंतु अभी हफ्ता भर पहले एक ऐसी घटना घट गयी जिसके लिए मालेराव कहीं से भी प्रस्तुत नहीं थे. वे रामपुर से अभी-अभी लौटे थे और जिंदगी में पहली बार महफिल लूट के लौटे थे. इसलिए जरूरत से ज्यादा मगन थे. वाह-वाही एक विचित्र वस्तु है और खतरनाक सिद्ध हो सकती है. खासकर ऐसे आदमी के लिए, जो उसका बिलकुल भी अभ्यस्त न हो और विशुद्ध स्वांतः सुखाय वाला हो.

मालेराव सुबह-सुबह घर पहुंच गये थे. दोपहर तक बिलकुल ठीक थे. पर खाना खाने के बाद एकाएक उनका पेट फूलना शुरू हो गया. वे दर्द से कराहने लगे. ऐसा दर्द उन्हें कभी नहीं उठा था. जैसे एक लोहे का गोला पसलियों के नीचे अटक गया हो और सांस लेना भी बड़े परिश्रम का काम हो. किसी तरह शाम हुई, डाक्टर आया, इंजेक्शन लगा. मालेराव सो भी गये पर आधी रात को एकाएक उठ बैठे. उन्हें पेशाब लगी. वे उठे और दरवाजे की तरफ बढ़े, पर दरवाजा छूते ही दर्द की एक तेज लहर उनकी छाती और पेट को उमेठती हुई चक्राकार उठी और मालेराव वह दरवाजा पकड़े-पकड़े गहरे समंदर में डूबने लगे. डूबते-डूबते पानी के अंदर ही उन्हें सुनायी पड़ा, 'मोलू ! मोलू !'. . . बस, इतना ही उन्हें याद है कि गिरने और अचेत होने से पहले उन्हें यह आवाज बहुत करीब से सुनायी दी थी. किसकी आवाज थी वह— कौन था वह, जिसने उन्हें उनके बचपन का नाम लेकर पुकारा था ?.... मालेराव सचमुच अचेत हो गये थे और पूरे पंद्रह मिनट बाद ही होश में आये—ऐसा माया का कहना है. पंद्रह मिनट बाद होश में आते ही मालेराव ने ठंडे पानी से नहाने की इच्छा प्रकट की जो पूरी नहीं होने दी गयी. क्योंकि उसका मतलब डबल निमोनिया होता. खैर, थोड़ी देर में मालेराव को फिर से नींद आ गयी और दूसरे दिन वे चंगे थे. पर कैसे चंगे ? सच पूछा जाये तो मालेराव को तभी से कुछ हो गया है और उन्हें अपनी उम्र भी अब तीस के बजाय पचास लगने लगी है. किसी ने कहा है और ठीक कहा है कि तीस बरस तक कोई भी आदमी दिल से यकीन ही नहीं कर सकता कि वह नश्वर है—चाहे ऐन उसकी आंखों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

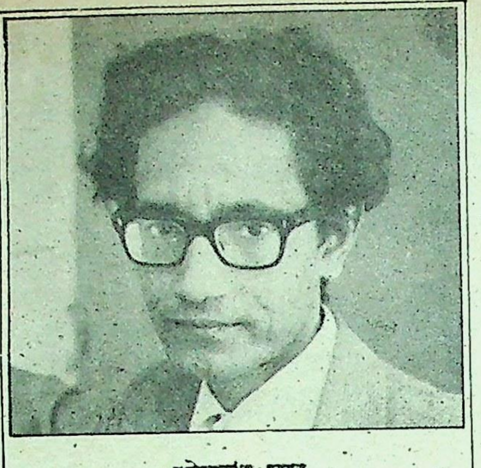

रमेशचंद्र शाह

के सामने से रोज आंधियां गुजरती हों---वह अपने को अजर-अमर ही समझता है---भालेराव अपने को अजर-अमर तो क्या समझते होंगे ! मगर जैसा उनका स्वभाव है, जैसी मस्ती और बेफिक्री उनकी फितरत में है, उसे देखते हुए मेरा तो यही अनुमान है कि वे भीतर ही भीतर आश्वस्त जरूर होंगे कि आसमान में जितने तारे हैं, उतने बरस नहीं भी, तो कम से कम, उतने ही चमकीले क्षण तो उनकी जिंदगी में आयेंगे ही. मगर उन पंद्रह मिनटों की अचेतन जीवन-यात्रा ने उनके मन पर जाने कैसा टोना-सा फेर दिया है कि वे अब अपने को सिंदबाद से भी ज्यादा बूढ़ा समझने लगे हैं और धरती पर उगने वाला हर दिन उन्हें मायावी और बड़ा दूर-दूर-सा लगने लगा है. अभी कुछ ही रोज पहले उन्होंने क्या सपना देखा कि वे एक तेज ढलान वाले रास्ते पर आप से आप लुढ़कते जा रहे हैं और अपने को रोक ही नहीं पा रहे हैं... तब से वे जैसे दिन-दहाड़े खुली आंखों भी उसी सपने में जी रहे हैं.

और अचरज की बात यह कि दिन और रात उन्हें कभी इतने इतने स्वादिष्ट नहीं लगे थे. वे लुढ़कते चले जा रहे हैं अपने अंत की ओर, और इससे उन्हें एक तरह की बेचैनी और घबराहट भी निश्चय ही हो रही है. पर बकौल खुद भालेराव के, इस डर के एहसास में ही जैसे एक पुलक का एहसास भी घुला-मिला हुआ है---एक अजीब-सी रोमांचकारी अनुभूति---जैसी कि बर्फ पर स्केटिंग करने वालों को होती होगी या उस आदमी को होती होगी जो पहली बार हवाई जहाज की खिड़की से नीचे पहाड़ों और नगरों का दृश्य देख रहा होता है. अब यूं तो ये दोनों ही चीजें भालेराव के अनुभव में नहीं आयी हैं मगर जिस अजीबोगरीब उन्माद की अवस्था उन पर इन दिनों छायी रहती है, उसका वर्णन करने के लिए उन्हें और बेहतर कुछ सूझता नहीं. यही बात होगी. एक मजा और भी है---वह यह कि उनकी आंखों के आगे आजकल हर घड़ी एक रील-सी चलती रहती है. वह रील उनके बचपन के दिनों की और शुरू जवानी के दिनों की है. भालेराव इन दिनों एक जिंदा चलचित्र हैं. जाने कहां-कहां की बातें, कहां-कहां के चेहरे... एक-एक घटना और प्रसंग उनके सामने आप से आप मूर्त्त होते चले जाते हैं. आंख सामने की प्रत्यक्ष इमारत या आदमी भी एक पर्दे में तबदील हो जाता है और उन दृश्यों को, उन चेहरों को उभारने लगता है.... .जिनके बारे में वे यूं कभी सोचते तक नहीं थे, जिन्हें वे अपने जाने कभी के भुला चुके थे. वे बस, आवाजों से घिरे रहते हैं और आपकी आवाज उन तक या तो पहुंचती नहीं या फिर किसी और की आवाज बनकर ही पहुंच पाती है. और यह कोई प्रेतलोक जैसा भी नहीं है : उन्हीं की अपनी दुनिया है जिसने उन्हें इस तरह अचानक पकड़ लिया है. यह जो दिन-रात चलने वाला उत्सव है---अविराम उत्सव उनकी स्मृतियों का... उससे वे बारी-बारी से आनंदित, विह्वल और त्रस्त होते रहते हैं. उन्होंने कहीं पढ़ा है या किसी को कहते सुना है कि मौत से कुछ पहले आदमी की स्मृति बिलकुल साफ हो जाती है और जो कुछ भी जिंदगी में जिया-भुगता होता है उसकी अनगिनत तहों में लिपटी कुंडली तेजी से खुलने लगती है ताकि जीव अपनी करनी को समूचा एकबारगी देख ले और इसका संकेत भी ग्रहण कर ले कि आगे उसका क्या होने वाला है. कैसी फिजूल बात है. मौत की घड़ियां गिनने वाला आदमी तो इस कदर बदहवास होता है कि क्या तो वह देखेगा-समझेगा और क्या तो संकेत ग्रहण करेगा! मगर सुनी-सुनायी बातों से कोई इस तरह चिपटने पर तुल ही जाये तो उसका आप क्या कर सकते हैं?

मेरी व्याख्या इससे अलग है. मैं भालेराव की उस पंद्रह मिनट की बेहोशी को इतना तूल नहीं देता. रामपुर की उस महफिल में मैं भी भालेराव के साथ ही था. मैं तो यह मानता हूं कि भालेराव जीनियस है और उसकी तान सुर में है. कोई और शायद यह नहीं मानेगा. हमारे इस नगर में एक से एक नामी संगीतकार आ चुके हैं. उन सबको मैंने सुना है और मुझे हमेशा लगता रहा है कि भालेराव में यदि सचमुच महत्त्वाकांक्षा होती और दस-पांच ऐसे अवसर भी उसे समय से मिल गये होते तो भालेराव अभी तक राकेट की तरह छूट निकले होते. विडंबना देखिए कि इस संगीत प्रेमी शहर में उनका नाम तक बहुत कम लोग जानते हैं. कहना न होगा कि रामपुर की वह महफिल खुद मैंने ही जमवायी थी और जिस छल-बल से मैं उन्हें वहां तक खींच ले जा सका था, वह कहने की बात नहीं है. मगर औरों की तो बात ही क्या, खुद मुझी को कल्पना नहीं थी कि भालेराव वहां सचमुच ऐसा चमत्कार कर गुजरेंगे. भालेराव जीनियस तो जरूर है मगर कछुआ छाप. बताइए, संगीत से अधिक सामाजिक भी कोई कला है ? अगर आपको इसी तरह अपने में सिमटे रहना था तो आपने संगीत ही क्यों चुना ? मैं दस बरस से देख रहा हूं--भालेराव को अपने खोल से बाहर नहीं निकलना. स्वांत:सुखाय क्या होता है ? स्वांत:सुखाय कुछ नहीं होता. स्वांत:सुखाय ढोंग है. जी हां, ढोंग है, मैं कहता हूं---प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ? उस रात भालेराव ने अचानक अपने जीवन का शिखर छू लिया और उसे अचानक यह इलहाम हुआ कि यह तो कम से कम दस साल पहले हो चुकना चाहिए था. अभी तक वह कहां था ? अभी तक वह क्यों कतराता रहा उस चोटी पर चढ़ने से---जो उसकी थी और सदा से थी ? मैंने बहुत समीप से देखा है उसको---भालेराव उस दिन बिलकुल नार्मल नहीं था. रास्ते भर वह नार्मल नहीं था और घर पहुंच कर भी नार्मल नहीं हो पाया था. एक वयोवृद्ध और अपने जमाने के पहुंचे हुए गवैये ने मंच पर ही आकर भालेराव को गले से लगा लिया था---यह कहते हुए कि 'तुम पै रज्जबअली की आत्मा उतरी है, तुमने रज्जबअली की याद दिला दी.' मेरे सामने की बात है---जी हां, मैं ही तो भालेराव के साथ तबले पर संगत कर रहा था उस दिन. मैंने भालेराव का ही नहीं, उस पब्लिक का चेहरा भी देखा था, जिसे भालेराव ने जमीन से दो बालिश्त ऊपर उठा दिया था. क्यों न उठाता ! भालेराव ने अपने-आपको ही लांघ दिया था. क्यों लांघ दिया था, कैसे लांघ दिया था, यह भालेराव ही जानता होगा. बल्कि वह भी शायद ही जानता होगा. अब यों तो उसका कुछ भी मुझसे छिपा रहे, यह लगभग असंभव है. मैं आखिर उसका तबलची हूं... रात-दिन उसके साथ उठने-बैठने वाला. पर हो सकता है, भालेराव को उस दिन अपने सामने बैठे श्रोताओं में कोई चेहरा ऐसा दिखायी दे गया हो जिसने उसके अंदर कुछ उमेठ दिया हो. हो सकता है, वह चेहरा उसे उसकी प्रेमिका की याद दिला गया हो. या कि उसी का चेहरा रहा हो... कौन जाने! मेरी कल्पना सौ फीसदी कल्पना ही सही, सच है कहीं; और शायद सच से भी ज्यादा सच है.

हां, तो मुझे लगता है उस दिन भालेराव में पहली बार महत्त्वाकांक्षा जागी. पहली बार उसे अनुभव हुआ कि वह किसी बड़े से बड़े गवैये से कम नहीं है और चाहता तो हर महफिल में ऐसा ही समां बांध सकता था. अपनी अध्यापकी से उसे पहली बार वितृष्णा हुई. उसे लगा उसे अब इसी शिखर पर कायम रहना चाहिए और उस पठार से उसका कोई रिश्ता नहीं है... जिसमें वह अभी तक पटका रहा. इस साक्षात्कार के साथ ही उसके जीवन के अनमोल बरसों की बरबादी उसके सामने

---पृष्ठ 57 पर जारी...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनासूत्र

से॰रा॰ यात्री

लंबे समय से निरंतर कथालेखन कर रहे से. रा. यात्री अपनी सहज किंतु प्रभावपूर्ण कथायात्रा के जरिये उन कथाकारों में गिने जाते हैं जो कहानी और उपन्यासों पर समान रूप से काम कर रहे हैं. मध्यवर्गीय जीवन को देखने की उनकी अपनी नजर और नजरिया है जो कथा-आंदोलनों में शरीक होने के बावजूद उनसे अप्रभावित रहता है. प्रस्तुत है इनकी एक ताजा कहानी—

महीनों से घिसटते-घिसटते वह हलकान हो चुका था. जहां जाता था पैदल ही मरते-गिरते पहुंचता था. चप्पलों और टखनों पर से होती हुई धूल उसके दिमाग तक जा पहुंचती थी. फिर चाहे कोई उस तरफ ध्यान दे न दे मगर वह अपनी ही आंखों में इतना अस्तित्वहीन हो उठता था कि किसी से आंखें तक नहीं मिला पाता था. एक ईवनिंग कॉलेज में महीने भर की एवजी करने के बाद जो दो सौ रुपये हाथ आये तो उसने अपने मुस होते दिमाग का जायका बदल डालने का निर्णय ले लिया. वह तुरंत खादी भवन गया—गांधी बाबा की मेहरबानी से जो छूट मिली थी उसकी लूट में शामिल होकर उसने एक कुरता-पायजामा और सदरी खरीद डाली. चप्पलों में जरा-सी जान बाकी थी सो क्रीमदार पालिश से पटाखा छूटने जैसी चमक पैदा करवा ली और अगली शाम को होटल जनपथ के दूसरे माले पर घाना से आये सेठ से साक्षात्कार का फैसला भी ले डाला. खाना भी कहीं ठस्सेदार जगह खाकर हौंस मिटाने की ख्वाइश थी पर हाथ में बचे रुपयों की गिनती करके यह जुबान का स्वाद-बदल प्रोग्राम किसी अगले जनम पर टाल दिया. बंतासिंह के ढाबे में पेट भारी करके गनीमत सत्ताईस रुपये पूरमपट लिए अपने रेनबसेरा में घुटने-पेट एक करके सो रहा.

अगले दिन कहीं जाना मना था क्योंकि उस दिन में काम के लिए महज शाम रेखांकित थी. पूरे दिन घर में रहकर कपड़े धोकर बुर्राक करने थे. तेलमालिश करके बदन में चिकनाई का आभास जगाना था. दिन में लेटकर भीतर एक चिर स्वास्थ्य पैदा करना था और फिर खरामा-खरामा का खटराग छोड़कर धुर टैक्सी से जाना था जिससे चप्पलों की पालिश महफूज धरी रहे, कुरता, पाजामा, सदरी में खमझोल कुछ

CC-0. In Public Domain.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न पड़े और चेहरे की लकीरों में भराव का भरम बाकी रह जाये.

पूरे दिन मृगसंहिता-सा तय जीवन जी लिया गया. टैक्सी ठीक पहर में हाथ आ गयी और लो अब जनपथ. पहली बार जन-से हटकर जाने का सुयोग भी मिल गया. ठस्स से पिछली सीट पर जमकर बैठते हुए सदरी की अंदरूनी जेब से सत्ताईस कलदार की भीतर-भीतर जांच-परख से लेकर गिनती तक कर ली गयी.

वह टैक्सी में पसरकर ऊल-जलूल की जुगाली में मस्त था. ड्राइवर की तरफ से पता नहीं क्या जिज्ञासा आयी कि वह सुनने की ताव नहीं ला पाया—हां-हूं, बड़बड़ाकर रह गया. अनजाने में आंखें जो खिड़की के बाहर थीं चमत्कार देख स्तंभित रह गयीं. चौड़ी-चौड़ी सड़कों पर हुजूम फैला पड़ा था. फुटपाथी लोग एकाकार गड्डमड्ड से होते लग रहे थे. चकाचौंध फेंकती रोशनी की आंखों से सारा नजारा किसी शरारती बच्चे की पेंटिंग सरीखा था. तभी हवा का एक सर्द थपेड़ा आया और नयी निकोर सदरी-कुरते में लिपटा उसका खफीफ जिस्म अंधड़ में झकोरे खाता तिरवे-सा लपक-झपक करने लगा.

ड्राइवर शायद जबरदस्त मूड में था. वह होटल के बड़प्पन से जुड़े आदमियों में था या फिर उसके लिबास में भारी-भरकम संभावनाएं देख रहा था. उसने फिर कोई जिज्ञासानुमा सवाल उछाला और लगा कि वह उत्तर भी स्वयं बता गया. चूंकि ड्राइवर के प्रश्नों की मुख्य भूमि उसके हाथ सिरे से ही नहीं आयी थी इसलिए 'हां-हूं', 'ठीक है' के अलावा वह कहता भी क्या?

घुमावदार रास्तों पर ड्राइवर गाड़ी को अतिरिक्त लापरवाही भरी दक्षता से मोड़ रहा था गोया उसके हाथ मस्ती का जाम लग गया था. उसकी टोपी पीछे खिसककर गर्दन छूने लगी थी. उसका चौड़ा सपाट माथा, फरफराती मूंछें और चौड़ा चकला जबड़ा यहां तक पहुंचते-पहुंचते किसी और का-सा लगने लगा था. रंगीनी चढ़ी तो उसकी आंखों से एक प्वाइंट की मस्ती तो उधर-उधर उछालें मार-मारकर छलकने लग पड़ी थी.

वह स्वयं से प्रश्नोत्तरी में गर्क था कि तभी उसने अपने अहवाल की खोज-खबर में मशगूल ड्राइवर से सुना, "सैकड़ों का पड़ जाता होगा साब!"

सैकड़ों क्या होता है—और कहां होता है इसकी बूझौवल से बचने की कोशिश में उसे "और क्या?" कहना ही तसल्लीबख्श मौजूं लगा. किसी राजा रईस की जिंदगी में ही सैकड़ों और हजारों का पहाड़ा चलता है फटीचर आदमी जो अपनी चप्पलों और टखनों को धूल से बचाने के फेर में टैक्सी पकड़ता है, अपनी जेब में हाथ डाले बराबर मीटर घूरता रहता है कि जेब की पूंजी और मीटर की गति का कहीं तालमेल न गड़बड़ा जाय.

"जाड़े की कड़क रात है साब."

"हां भई है तो मगर उपाय ही क्या है?" कहकर उसने ड्राइवर को बेबसी जतलायी और अपनी हथेलियां रगड़ने लगा.

"है साब इंतजाम है—आप जैसों के लिए तो है साब." कहकर ड्राइवर ने रहस्यमयी भाव भंगिमा से पीछे मुड़कर एक नजर देखा और कोई बाधा न पाकर सर्र से एक लेन में गाड़ी मोड़ ली.

इससे पहले कि वह कुछ जाने-समझे, ड्राइवर अपनी जगह से उठा और उड़ंछू हो गया. उसकी धड़कन बढ़ने के साथ ही हीनभाव पता नहीं कहां तिरोहित हो गया. उसने झल्लाकर ड्राइवर को गाली निकाली, "उल्लू का पट्ठा. इस हरामी ने ये कहां ला मारा." उसके अस्थिपंजर मार गुस्से के खड़खड़ाने लगे. उसे लगा कि थाना के सेठ से जनपथ होटल का साक्षात्कार हाथ से गया. शायद पढ़ा-लिखापन साथ दे जाता तो सेठ अपने साथ ले ही जाता. कितना बड़ा देश है अपना. छोड़ो देश की, इस दिल्ली को ही लो—कहीं कोई बेकार दिखता है. सब एड़ी से चोटी तक काम में मसरूफ भागमभाग जिधर किधर चले जा रहे हैं. सालों एड़ियां रगड़ते निकल गये. कहीं कोई धेले का ग्राहक नहीं है. किसी प्राइवेट स्कूल-कॉलिज की महीने-पंद्रह दिन की एवजी बमुश्किल पकड़ में आती है और फिर तिमाही-छमाही तक गूलर का फूल-सी अदृष्ट बनी रहती है.

टैक्सी एक बिल्डिंग के जेरे साये खड़ी थी और वह बैठा-बैठा दौड़ लगा रहा था. उसे पता ही नहीं चल रहा था कि होटल का अजीमुश्शान भवन किधर गया. मगर तभी एकाएक सारा नक्शा बदल गया. सामने से ड्राइवर चला आ रहा था और भड़कीली साड़ी में लिपटी एक खुशनुमा गुड़िया उसके साथ लगी हुई थी. उसके कंधे पर क्रीम कलर का शाल बेपरवाही से दोनों ओर स्कूली लड़कियों की चोटियों-सा झूल रहा था. ऊंची एड़ी के सैंडिलों में वह कवायदी मुस्तैदी से बढ़ी चली आ रही थी.

खटाक से दरवाजा खुला और तूफान-सा आकर कौन-सी महकार गडमड होकर लपटें उठा रही थी उसके देवताओं तक की जानकारी में नहीं था. पूरा जोर लगाकर मगर फिर भी चोरी-चकारी की निगाह से उसने बाजू में देखा. सूखे-सुनहरे बालों की लट उसके नन्हे से मुखड़े पर अठखेलियां भरती फिर रही थीं. लड़की के पतले होंठों पर ठहरी-ठहरी मासूम मुस्कान में जितना ही खुला आमंत्रण था उतना ही वह सिमटता-सिकुड़ता चला जा रहा था. पल भर पहले सारे गुस्से के वह फटा पड़ रहा था. गाली की मार से ड्राइवर को छलनी कर देने की उसने कितनी कोशिश की थी मगर इस वक्त बगल नशीन खूबसूरत बला ने उसके सारे हाहाकार पर पानी डाल दिया था. अपनी गोद में रखे वैनिटीबैग को उसने नामालूम ढंग से सरकाकर उससे चिपकाकर स्थापित कर दिया था जिसकी छुअन की

अपनी कहानियों के बारे में...

□ ज्ञानरंजन

मैं बचपन से उदास और आलसी रहा हूं. यह मेरी आंतरिक बाधा और समस्या है; इसलिए जब भी मैंने कोई कहानी लिखी, मुझे विस्मय हुआ अपने ऊपर और बहुत खुशी भी हुई. 'संबंध' को मैंने एक सपाटे में लिखा है. 'घंटा' और 'बहिर्गमन' कहानियों ने काफी परिश्रम करवाया, लेकिन उनको लिखते वक्त मैं अपूर्व 'कॉमिकल' मनःस्थिति में था. दूसरी कहानियों में आगे या पीछे या साथ-साथ यातना थी या ठसपन या क्षोभ, लेकिन 'घंटा' लिखते वक्त, मुझे विश्वास है कि मेरा दिमाग 'मोनालिसा मॉस्त्रियानी' के चेहरे की तरह रहा होगा, [illegible] को देखने से लगता है कि उसने जन्म के साथ ही दुबिधा को जान लिया होगा.

अपनी कहानियों के बारे में मेरा अनुभव यह है कि जब भी वे सामने आती थीं, मेरे साथियों ने चुप्पी और लगभग आतंकित हो जाने जैसा सलूक किया. मेरे अभिन्न मुझे घूरते थे और खेद अनुभव करते थे और घर में कहानी को माता-पिता लगभग छिपी जगहों में डाल देते थे. मेरे सभी भाई-बहिन वयस्क थे. आलोचक नेमिचंद्र जैन ने मेरी कहानियों के बारे में लिखा कि उनमें 'डरावना अनुभव-संसार' है. साथी, संबंधी और आलोचक कहानियों को कहीं-न-कहीं मेरी निजी जिंदगी से जोड़ते थे. हिंदी साहित्य संसार की यह एक अभूतपूर्व स्थिति रही है. मेरी 'पिता' कहानी की तारीफ में उसे पिता-विरोधी दर्शन के साथ जोड़ने की क्रांतिकारी आलोचना भी सामने आयी. मैं इस तरीके को कभी भी पसंद नहीं कर सका, क्योंकि मेरी कहानियों में निजी मामले काफी हद तक झूठ भी हैं—हां, ये सार्वजनिक सच्चाइयों के साथ स्वाभाविक रूप से जोड़े जा सकते हैं.

('प्रतिनिधि कहानियां' की भूमिका से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुदगुदी उसमें लहर-सी उतरती चली गयी थी.

टैक्सी चलाते हुए ड्राइवर ने खाली हाथ की उंगलियों से अपनी मूंछों को नुकीली बनाना शुरू कर दिया. टैक्सी के ऊपर-नीचे होते अंदाज ने लड़की को भरसक निकटता दे दी. यही नहीं उसने आहिस्ता से अपना छोटा-सा बैग उठाकर दूसरी तरफ रख दिया और निहायत अपनेपन से उसकी दिशा में सरक आयी. उसके लेखे तो अब कहीं सरकने का ठिकाना नहीं बचा. वह तो पहले ही दरवाजे से रगड़ खा रहा था. लड़की ने अपना कंधा इस अंदाज में उससे अड़ाया गोया बड़ी भारी ठंड में गल रही हो और उस पर तुर्रा यह कि अपना शाल भी बाज के नखों की तरह फैला दिया. लड़की की इस तुरप में खासा भारी करिश्मा था. यानी लड़की का शाल उसके कंधों पर भी समा गया. उसने इतना गर्क कर डाला कि अब विरोध करने की सोच भी दगा दे गयी. लड़की की गरिमा नामालूम ढंग से उसके भीतर कुछ इस ढब में उतरी कि आग्रह भरे विरोध का तरकस ही खाली हो गया.

● से. रा. यात्री

लड़की ने अपनी नाजुक कलाई ऊपर करके नन्हीं-सी घड़ी देखी तो सहसा उसे अपने साक्षात्कार की देर से भूली हुई याद सिहरा गयी. "ओफ" कहकर उसने बेताबी से लड़की की घड़ी में वक्त चीन्हने की कोशिश की. उस फरिश्ते ने मंद-मंद मुस्काते हुए अपनी कलाई आगे कर दी. वक्त को अनदेखा करने की ताव न लाकर उसने घड़ी देख ही ली. चलो खैरियत हुई अभी आठ पूरे नहीं बजे थे. पहली बार वह लड़की के प्रति गहरे मन से कृतज्ञ हुआ गोया यह उसी की अनुकंपा थी कि अभी आठ नहीं बजे थे. वह न होती तो शायद अब तक सन्नाटेवाली आधी रात हो गयी होती.

अपनी नयी निकोर सदरी के सख्त काजों में बटनों को ठूंसते हुए वह न जाने क्या कुछ सोचने लगा. उसे लगा ड्राइवर एक ही चालाक बंदा है. अब वह होटल में एक के बजाय दो सवारियां ले जा रहा है. एक चक्कर में ही दो सवारियां और दोनों आदमियों से अलग-अलग भाड़ा—दूनी आमदनी. भई वाह. इस शहर में रहकर कैसी तुरत बुद्धि विकसित हो उठती है कमाई के मामले में. पर साथ ही उसे अपने सोच पर ताज्जुब भी कम नहीं हुआ. भला ड्राइवर शहर के दो छोरों से जानेवाली दो सवारियां क्योंकर तलाश करता फिरेगा?

उसने सिर को झटका दिया. होगा कुछ. तुझे क्या पड़ी है. लोग कहां क्या करते घूमते हैं—यह तेरी सिर दर्दी तो है नहीं.

एकाएक टैक्सी ठहर गयी. ड्राइवर ने फुर्ती से उतरकर दरवाजा खोलकर उसे उतरने की खातिर फर्शी सलाम मारा तो उसे हौलदिल होने लगी. सामने होटल की विशाल बिल्डिंग चुनौती बनी खड़ी थी. वह बदहवासी में टैक्सी से बाहर निकलकर आया और भुक्कू ऐसा इधर-उधर ताककर मीटर की ओर मुड़ा. भीतर की जेब से दस का नोट निकालकर टैक्सी ड्राइवर को देते हुए बोला, "बाकी जो रह जाये उसे तुम रखो."

इस क्षण वह एकदम भूल गया कि उसकी मुख्तसर-सी यात्रा में जो शामिल थी वह कहां है. ड्राइवर ने "साब" कहकर जो उसे मुखातिब किया तो वह अचकचा गया. लड़की इतनी देर में टैक्सी से बाहर निकलकर उसकी बगल में जोड़ीदार बनकर खड़ी हो गयी थी. ड्राइवर ने अदब से जो इस बार वजनी सलाम बोला उससे वह पूरी तरह उखड़ गया. उससे कुछ कहते नहीं बन पड़ा. यंत्रवत् हाथ सदरी की जेब में गया और भीतर ही भीतर फर्क तलाश करके उसने पांच का पत्ता निकालकर रोते झींकते दिल से ड्राइवर की तरफ बढ़ा दिया. उसे लगा ड्राइवर अपनी उम्मीद की हत्या देखकर तेवर बदल रहा है मगर उसने अपनी आंखें उधर से हटा लीं. अब उसकी साफ-साफ समझ में आ गया— ड्राइवर जो बार-बार जिज्ञासाओं भरी संभावनाएं उसकी तरफ उछालता चला जा रहा था वह यों ही नहीं थी. उनमें अपेक्षाओं की सौदेबाजी का अपना अलग ही महत्व था. और अब परिणाम उसके साथ मुजस्सिम खड़ा था. लड़की की दिलकश मुस्कराहट से वह कटकर रह गया. लड़की को कुछ भी समझाने का अवसर बाकी नहीं रह गया था.

वह लिफ्ट की ओर लपका. लड़की लिफ्ट में मौजूद थी. ऊपर जाकर लिफ्ट के बाहर निकला तो लड़की साथ ही निकल चली. उसने लड़की से आंखें बचाने की कोशिश नहीं की—अब जो होने वाला है यह भी क्यों न देखे? जो कुछ सामने घटित होगा वही समझा देने के लिए काफी है. वह दिये हुए नंबर के कमरे के सामने जाकर ठहर गया. एक लंबी आह जैसी सांस खींचकर उसने घंटी का बटन दबा दिया. दरवाजा खुला तो वह उसके साथ-साथ ही भीतर एक शानदार कमरे में घुसी.

उसने देखा एक लंबे-चौड़े दीवान पर सिल्क के कुरते में मलबूस एक फैला-फूला आदमी बैठा है जिसके दायें-बायें, सूट-बूट में कई फरमा बरदार मौजूद हैं. वह दीवान पर फसकड़ा मारे बैठे सेठ के सामने पहुंचकर एक क्षण के लिए ठहर गया. वह साथवाली के बारे में एकदम सब कुछ बिसरा बैठा था.

सेक्रेटरीनुमा एक आदमी ने आगे बढ़कर उसकी अगवानी की और सोफे की ओर संकेत करके कहा, "बी सीटेड प्लीज."

वह हाथ मांजते हुए बदहवासी में सोफे की ओर मुड़ा तो उसने साथ आयी लड़की को दरवाजे के पास भौंचक स्थिति में खड़े देखा. सेक्रेटरी लगनेवाले ने आगे बढ़कर लड़की से कहा, "आइये, आइये, उधर क्यों खड़ी हैं—तसरीफ लाइये."

लड़की के चेहरे पर एक क्षण के लिए असमंजस घिर आया पर अगले पल वह मुस्कराते हुए आगे बढ़ी और सोफे पर टिक गयी. वह बैठकर साक्षात्कार का इंतजार करने लगा. लड़की कनखियों से उसे ही देख रही थी और समझने की कोशिश कर रही थी कि वह किस गोरखधंधे में फंस गयी है. वह स्तब्ध होकर इधर-उधर देखती रही और फिर अपनी साड़ी के पल्लू को उंगली पर लपेटने लगी.

थोड़ी देर बाद ही थाना से आया सेठ उसकी ओर मुखातिब हुआ और उसने अपने नजदीक बैठे एक शानदार कपड़ोंवाले से कुछ कहा. वह इतनी धीमी आवाज में बोला कि साक्षात्कार के लिए आया वह कुछ नहीं पकड़ पाया. सेठ की बात सुनकर नफीस लोगों में एक हंसी की लहर उठी तो वह और भी ज्यादा कछुआ बन गया. क्योंकि बात उसी को लेकर हो रही होगी—ऐसा जान लेना किसी भी तरह अनोखा नहीं था. घबराई हुई हालत में उसने साथ आयी अनजान की जानिब देखा. वह औचक भाव से सारे माहौल में मतलब की चीज तलाश रही थी.

सहसा एक रौबदार ध्वनि उछली, "नाऊ देयर इज आ प्राब्लम कनसर्निंग फिजिक (सेहत की समस्या है)."

वह इस स्वगत प्रश्न से कुछ भी नहीं पकड़ पाया तो दूसरे ने उसकी ओर मुखातिब होकर समझाने की 'व्यासशैली' पकड़ी, "बाबू साब, आप कुछ कमजोर नहीं हैं? मेरा मतलब बाहर के मुलक की आब-हवा आपको माफिक पड़ेगी?"

उसकी साफ बात या कि जिज्ञासा से वह इतना उखड़ा कि और भी ज्यादा मरगिल्ला दिखाई पड़ने लगा. लड़की ने भी उसे कुछ यों देखा गोया साथ आनेवाले को देखने की नयी नजर मिल गयी हो.

मोटा सेठ खूब खुलकर हंसा—उसके कद्दू के बीच ऐसे दांत और

CC-0. In Public Domain.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरबूज को मात देता पेट सक्रिय हो उठे. अपने आपको मौंदू दीखने से बचाने की कोशिश उसे बेकार लगी. वह तीखेपन से बोला, "सेहत के बारे में सोचने का वक्त जब आ जायगा मैं जवाब दे दूंगा. फिलहाल तो मैं हूं आप सज्जनों के सामने, बस इतना समझें कि मैं झेरे में (अंधे कुंए में) गिरने की नीयत से ही आया हूं."

उसके झेरे में गिरने की विवशता सुनकर सबकी मसखरी जहां की तहां ठहर गयी. सेठ के लिए इससे ज्यादा अपमान की डोज और क्या हो सकती थी. उसने अपनी खास शैली में समझा दिया कि वह उसे अंधे कुंए में फेंकने की गरज से साथ नहीं ले जाना चाहता.

उनमें से एक ने सेठ का इशारा पकड़कर बात खत्म करके नयी शुरुआत की, "नाव नैक्स केंडीडेड (अब दूसरा प्रत्याशी)."

बात चूंकि लड़की पर फेंकी गयी थी इसलिए वह हड़बड़ा उठी और जिसके साथ यहां तक आ पहुंची थी उसे अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से समझने की कोशिश करने लगी. उसे अपने आदमी का पक्ष संभालने की नैतिक जरूरत ने खूब उकसाया. वह लापरवाही से बोली, "मैं इस काम के लिए नहीं आयी. (गनीमत उसने 'नहीं आयी' ही कहा 'नहीं लायो गयी' नहीं कहा).'

उनमें से कोई उसकी बात नहीं समझा. एक बोला, "पर अब तो आप आ ही गयो हैं. दिलचस्पी रखती हों बाहर जाने में तो अपने बारे में बता दीजिये."

"बाहर जाकर ही क्या हो जायेगा—जब यहीं कुछ नहीं बनना किसी का?" लड़की की बेबाक बात सुनने के बाद किसी को क्या पूछना था? सो मामला खत्म हो गया.

पहले वह सोफे से उठा और बाद में लड़की. क्योंकि वह तो उसकी अनुगामिनी-अनुगता बनी चल रही थी. पता नहीं उस आरामदेह मगर साथ ही कटखने माहौल से निकलकर वह किस तरह बाहर आया और अनजाने में बस स्टैंड पर जाकर खड़ा हो गया. उसका एक हाथ बराबर सदरी के भीतरी पाकिट में कुछ टटोल-सी मचा रहा था. तभी एकाएक उसकी नजर साथ खड़ी लड़की पर चली गयी. अभी तक तो वह घाना सेठ से मुक्त ही नहीं हुआ था. उसे लड़की पर जोर का गुस्सा आने लगा. अपनी असफलता उससे सही नहीं जा रही थी. उसके भीतर एक वैज्ञानिक इच्छा ने करवट ली कि वह लड़की को खूब-खूब फटकारकर अपनी व्यर्थता का गुबार निकाल डाले.

लड़की को झिंझोड़ने के इरादे से उसने उसका चेहरा जरा गौर से देखा. वे दोनों लैंपपोस्ट के नीचे खड़े थे. गो रोशनी खूब तेज थी जो रक्तहीन चेहरे पर भी हाईलाइट फेंककर रौनकदार बनाने में कंजूसी करनेवाली नहीं थी. मगर लड़की के भीतर से उभरता सन्नाटा उसकी आंखों और कपोलों की दास्तान कहे जा रहा था. पाउडर की पर्त थी या क्या कि उसका चेहरा कागज जैसा सफेद लग रहा था. बांहें निर्जीव-सी झूल रही थीं. इस चौधियानेवाले उजाले में लड़की की गर्दन और हाथों की नसें पतली डोरियों का धोखा पैदा कर रही थीं. लड़की को इतनी चुप और दयनीय देखकर उसका गुस्सा तरस में बदल गया.

बसों की रेल-पेल कम होती जा रही थी. होटल के बाहर सैकड़ों कारें खड़ी थीं. उनके आकार उनमें बैठनेवालों की अनोखी दास्तान कह रहे थे पर इन दोनों को अपनी दिशा में ले जानेवाला कोई मामूली-सा वाहन भी ठहरता नजर नहीं आ रहा था. लड़की चोरी-छुपे उसे देख लेती थी और अपने झीने से शाल को कसकर लपेटने लगती थी. जब वह उसके साथ टैक्सी में शाल इधर-उधर फेंकती थी तो हूर का धोखा देती थी और अब घूरे पर फेंकी चीज मालूम पड़ती थी.

वह लड़की को आसन्न संकट की तरह ले रहा था. क्योंकि उसे बेधड़क साथ ले जा सकने की औकात उसकी कहां थी? जेब में पड़े थोड़े से पैसों से तो दो जनों का ठीक-ठाक ढंग से पेट भरना भी मुहाल था. सहसा उसे लगा कि वह उससे कुछ कहने की हिम्मत जुटा रही है. उसने लड़की की बात जो शायद पहली दफा संवाद बनने जा रही थी, सुनने का फैसला किया. वह उसके नजदीक सरक आया. लड़की ने मिनमिनाहट में कुछ फुसफुसाने की कोशिश की. उसने चेष्टापूर्वक सुनने के लिए भौंहों में बल डाल लिये तो बस इतना पकड़ पाया—कि दोनों एक बड़ी गलतफहमी के शिकार हुए हैं. और ड्राइवर ने टैक्सी में दोनों को साथ रखकर ऐसी जगह फेंक मारा है जहां से उठने में दोनों पुरजोर मारा-मारी कर रहे हैं.

बात पकड़ में आने में देर लगी और लगनी ही थी क्योंकि साथ जुटने से लेकर इस हड़कंप मचाती ठंड में मायूस खड़े होने तक बीच में कुछ भी तो खुशगवार हाथ नहीं आया था. उसका हाथ सदरी से यों बाहर आया गोया किसी ने जबरन खींचकर निकाल दिया हो. बिना गिने ही उसने मुट्ठी लड़की की हथेली में खोल दी और धन्यवाद सुनने की ताव न लाकर जिधर मुंह उठा बढ़ लिया. पूरी एक शाम में एक लड़की की दुविधा का मुआवजा भी उसे नहीं मिल पाया. फिर उससे आंखें मिलाकर कहने को बाकी क्या रह जाता था? लड़की की झिझक हथेली के स्पर्श में मुखर हो उठी थी पर विपरीत दिशाओं में जाने की बाध्यता ने उसे कोई रंग नहीं दिया.

उसने चाहने के बावजूद पीछे मुड़कर नहीं देखा क्योंकि इस मुलाकात को नाम दिया जा सकने योग्य तो कुछ भी घटित नहीं हो पाया था. हड़कंप पैदा करती रात ने उसे अंधी गति से एक तरफ ठेल दिया. अब तक वह पूरी तरह भूल चुका था कि चप्पलों और टखनों की धूल बचाने की अय्याशी अभी उसके हिस्से में नहीं आयी है. तरह-तरह की भूखों से आक्रांत वह विशाल अजगर-से फैले राजपथ पर खो-सा गया. ☐

● एफ/ई-7, नया कविनगर, गाजियाबाद-202002

ये कवि की कहानियां नहीं !

डॉ. नामवर सिंह

श्रीकांतजी की कहानियां दरअसल तब आयीं, जब मैं कहानियों पर अपनी लेख-माला समाप्त कर रहा था. श्रीकांतजी छठे दशक में तो कहानियां नहीं लिख रहे थे. छठे दशक के अंत में उन्होंने इक्की-दुक्की कहानियां लिखनी शुरू कीं, लेकिन उनकी कहानियों ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था और मैं उन्हें कई दृष्टियों से, और दूसरे कई लोगों की अपेक्षा महत्वपूर्ण कहानीकार मानता हूं. और यहां एक बात मैं स्पष्ट कर दूं कि श्रीकांत वर्मा की कहानियां एक कवि की कहानियां नहीं हैं अर्थात् कविता से जो कुछ समझा जाता है... काव्यात्मक भाषा, एक खास तरह की रूमानियत, बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग... इनको देखें तो निर्मल जी में ये चीजें ज्यादा हैं. श्रीकांत की कहानियां तो बहुत ही तथ्यात्मक... छोटे-छोटे वाक्यों में समाप्त होनेवाला गद्य... और बड़ी निर्ममता से किसी समाज की अमानवीयता को उद्घाटित करनेवाली हैं, जैसे 'शव यात्रा' कहानी में हुआ है; 'ठंड' में है, 'घर' में है... तो जैसे अपनी कविताओं में श्री कांतजी कर रहे थे... उनकी कविताओं की भाषा भी देखेंगे तो एक खास तरह की बड़ी कटी-छंटी-सी भाषा है... तो इसलिए कवि की लिखी कहानियां अगर ये हैं, तो एक खास तरह के कवि की लिखी हुई कहानियां हैं. इस समाज में बढ़ती हुई आपसी संबंधों की और परिस्थितियों की जो अमानवीयता है, अमानुषिकता है, उसकी क्रूरता है, उसको बड़ी निर्ममता से श्रीकांत ने इन कहानियों में चित्रित किया है.

(पहल पुस्तिका में सुरेश पांडेय से बातचीत में)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारी रात

कामता नाथ

"मैं तुम्हारे ऊपर कोई दोष तो मढ़ नहीं रहा. मैंने नहीं बता दिया सब कुछ. जैसा मैंने कहा, इसमें किसी का कोई दोष नहीं होता. यह तो बस, संपर्क की बात होती है." नवविवाहित दंपत्ति के बीच विवाह-पूर्व प्रेम-संबंधों की चर्चा उन्हें अंततः किस पड़ाव पर ले जाती है ?...

हां तो बताओ."

"क्या बतायें?"

"कभी किसी से तुम्हारा कोई संबंध नहीं रहा?"

"न."

"बिल्कुल, जरा भी नहीं?"

"न."

"यह मैं मान ही नहीं सकता."

"आपकी कसम."

"क्यों झूठी कसम खाती हो."

"आपको विश्वास नहीं?"

"कैसे विश्वास हो! हर झूठी-सच्ची बात पर विश्वास कर लूं."

वह थोड़ी देर चुप रही. तब बोली, "क्या जरूरी है कि शादी से पहले हर लड़की का किसी न किसी से संबंध रहे ही?"

"आज के जमाने में न रहे, यह हो ही नहीं सकता."

"और लड़कों का?"

"लड़कों का भी."

"तो आपका भी रहा होगा."

"हां."

"कितनी लड़कियों से रहा?"

वह सोचने लगा 'एक... दो... तीन' उसने उंगलियों पर गिना.

"हां तीन से रहा. बस." उसने कहा.

"क्या रहा, बतलाइए."

"क्यों बताऊं!"

"न बताइए." वह चुप हो गयी.

उनका नया-नया विवाह हुआ था. कल सारी रात वह एक मिनट भी नहीं सोये थे. . .और आज भी इस समय दो बजने वाले थे. कमरे में नीली रोशनी का जीरो पावर का बल्ब जल रहा था. जाड़ों के दिन थे. रेशमी लिहाफ के नीचे एक-दूसरे से सटे हुए लेटे वे ऊलजलूल बातें कर रहे थे. इसी बीच न जाने कैसे बातों का यह सिलसिला निकल आया.

थोड़ी देर खामोश रहने के बाद लड़की ने अपनी नर्म-नर्म उंगलियों से उसे छुआ.

"बताइए न." उसने कहा.

"अच्छा बताता हूं." उसने कहा और उसे प्यार करने लगा.

"जाइए, बड़े वो हैं आप." लड़की ने उसे हटाते हुए कहा.

"वो' क्या होता है?"

"मुझे नहीं मालूम."

"फिर तुमने 'वो' कहा क्यों?"

"मेरा मन."

"तुम्हारा जो मन होगा करोगी?"

"जी."

"ठीक है. मेरा भी जो मन होगा करूंगा." और वह फिर उसे अपनी ओर घसीटने लगा.

"छोड़िए, जाइए भी."

"कहां जाऊं?"

"अपनी उन्हीं तीनों के पास जाइए."

"अच्छा." उसने बलपूर्वक उसे अपने निकट खींच लिया और दुबारा प्यार करने लगा.

थोड़ी देर ऐसे ही चलता रहा. तब लड़की ने उसे दुबारा छेड़ा, "बताइए न."

"क्या बताऊं?"

"उन लड़कियों के बारे में बताइए न."

"बताऊंगा. लेकिन एक बात है."

"क्या?"

"तुमको भी बताना पड़ेगा."

"अच्छा."

"अच्छा क्या?"

"मैं भी बताऊंगी."

"इसके मायने तुम्हारा भी कुछ रहा है."

"हिश्ट."

"हिश्ट क्या? मैं क्या कोई कुत्ता-बिल्ली हूं जो मुझे हिश्ट कर रही हो!"

"वैसे ही निकल गया मुंह से... सॉरी."

"अच्छा तो तुमको भी बताना पड़ेगा."

"मैं क्या बताऊं, मेरा कुछ रहा ही नहीं."

"फिर तुमने यह क्यों कहा कि बताओगी?"

"अच्छा बताऊंगी. मगर पहले आप बताइए."

"सच-सच बताऊं."

CC-0. In Public Domain. Gurukul

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"और क्या झूठ बतायेंगे."

उसने उसे अपने निकट खींच लिया. लड़की ने करवट लेकर अपना हाथ उसके सीने पर रख लिया.

"पहली लड़की तो यहीं सामने वाले मकान में रहती थी." उसने कहा.

"नाम क्या था?"

"बिट्टी."

"बिट्टी? असली नाम क्या था?"

"बिट्टी नाम मैंने थोड़े रखा था."

"बिट्टी तो घर का नाम होगा. असली नाम तो कुछ और रहा होगा?"

"हां, असली नाम तो कुछ और था."

"क्या था?"

"लक्ष्मी."

"फिर?"

"फिर क्या?"

"पूरी बात बताइए न."

"पूरी बात? अच्छा. ऐसा हुआ कि हमारे घर में सब लोग बाहर चले गये थे. किसी शादी में. मेरी परीक्षाएं हो रही थीं. इसीलिए मैं अकेले रह गया था. तभी लक्ष्मी ने मेरी बड़ी सेवा की. सुबह बेड टी लेकर आती मेरे लिए. तब नाश्ता. फिर दिन और रात का भोजन. मेरे कपड़े भी साफ करती वह. मेरे कमरे में सफाई करती. समझ लो सभी कुछ करती थी वह. अब तुम्हीं बताओ, कोई तुम्हारे लिए इतना करे तो उसके प्रति तुम्हारे मन में प्यार नहीं होगा क्या?"

"अपने मतलब से भी तो करते हैं लोग."

"मतलब की इसमें क्या बात है?"

"उसके घरवाले मना नहीं करते थे."

"घरवाले उसके यहां कहां थे? बताया न रिश्तेदारी में आयी थी यहां."

"अरे वही रिश्तेदार लोग."

"क्यों मान करते. पढ़ती भी तो थी वह मुझसे. बहुत तेज थी पढ़ने में."

"रात में भी रहती थी आपके कमरे में?"

"हां, यही कोई ग्यारह-बारह बजे तक."

"तब तो सब कुछ किया होगा आपने?"

"हां करीब-करीब सब कुछ समझो."

"कितने दिन रही यहां वह?"

"यही कोई दो महीने."

"आजकल कहां है?"

"अपने घर में."

"कहां?"

"बदायूं."

"शादी हो गयी उसकी?"

"अभी कुछ दिनों तक तो नहीं हुई थी. अब कह नहीं सकता."

"खत लिखती है आपको?"

"अब तो नहीं लिखती. पहले लिखे थे."

"आपने भी लिखे होंगे?"

"हां, दो-चार तो लिखे ही थे."

वह चुप हो गयी. काफी देर चुप रही.

"क्यों, चुप क्यों हो गयीं?" उसने पूछा.

"वैसे ही."

"और दो लड़कियों के बारे में नहीं सुनोगी."

"सुनाइए."

"अच्छा जाने दो."

"नहीं-नहीं, बताइए न."

"बताता हूं. दूसरी थी शिखा."

"वह कहां थी?"

"मेरे साथ पढ़ती थी यूनीवर्सिटी में. बहुत खूबसूरत थी वह. यूनीवर्सिटी के सभी लड़के और लड़के क्या; प्रोफेसर तक उस पर मरते थे."

"आप भी मरते थे?"

"हां, चाहता जरूर था."

"यह मरा कैसे जाता है?"

"तुमको नहीं मालूम?" वह फिर उसे प्यार करने लगा.

"यह क्या मरना बता रहे हैं?"

"हां." उसने उसके सिर में एक हल्की चपत लगायी.

"रहने दीजिए. मालूम हो गया. बस, पीटिए नहीं."

कुछ क्षण फिर खामोशी के बीते. तब वह बोली, "आगे बताइए ना."

"बतायें क्या. क्लास में मेरे ही बगल में बैठती थी. सो धीरे-धीरे हमारे बीच प्यार हो गया. होस्टल में रहती थी वह. डैडी उसके कहीं बाहर पोस्टेड थे. शुरू में हम लोग केवल क्लास में ही मिलते. तब बाद में बाहर भी मिलने लगे. कई बार सिनेमा भी गये साथ-साथ."

"सिनेमा में और सब भी किया होगा आपने?"

"क्यों तुम्हारे साथ किया कभी किसी ने?"

"हिश्ट . . . सॉरी!"

"अबकी हिश्ट कहा तो झापड़ दूंगा."

"अच्छा, अब नहीं कहूंगी . . . आगे बताइए."

"आगे क्या . . ." वह कुछ देर चुप रहा तब बोला, "उस लड़की को मैं वास्तव में बहुत चाहता था. बड़े खूबसूरत खत लिखती थी वह."

"हैं आपके पास?"

"हां, देखोगी?"

"जी, देखूंगी."

"नहीं दिखाऊंगा."

कहानी बनाम आलोचना

▣ राही मासूम रजा

जान स्टीनबेक के एक उपन्यास 'ईस्ट ऑव एडेन' में एक चीनी बावर्ची है 'ली'. कहानियों के विषय में इस बावर्ची की राय हमारे बहुत-से कहानी लिखने वालों से ज्यादा जंची-तुली है. उसका कहना है—"लोगों को केवल अपने-आप में दिलचस्पी होती है. इसलिए अगर कोई कहानी सुनने वाले के बारे में नहीं है तो वह उसे सुनेगा ही नहीं, इसलिए मैं यहां एक नियम बनाता हूं कि हर महान और जीवित रहने वाली कहानी तमाम लोगों के बारे में होती है, नहीं तो वह जिंदा नहीं रह सकती. विचित्र और अजनबी चीजें कभी दिलचस्प नहीं हो सकतीं. दिलचस्प तो केवल गहरी, व्यक्तिगत और जानी-बूझी चीजें होती हैं."

मुझे इस बावर्ची की बात बहुत सारे आलोचकों से अच्छी लगी क्योंकि इस बावर्ची ने हमारी कहानियों की उस दुखती रग पर हाथ रख दिया है जो आज तक हमारे आलोचकों को दिखायी नहीं दी, बात यह है कि हमारे आलोचक तो बड़े-बड़े शब्दों के प्रमाण की साधना में लगे रहते हैं और इस साधना में इतना खो जाते हैं कि एक छोटी-सी बात की ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि कहानी के लिए कहानी होना पहली शर्त है. 'ली' ने यह रहस्य पा लिया था. इसलिए उसने दो वाक्यों में कहानी की आलोचना कर दी जो साहित्य के पंडितों से किताबों में नहीं हो सकी. ☐

—प्र: तीज.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"न दिखाइए. कसम खिलायी होगी न उसने."

"सब तौर-तरीके मालूम हैं तुमको."

"हि . . . सॉरी."

लेकिन वह 'सॉरी' कहने से पहले ही चपत लगा चुका था. हाथ कुछ जोर से ही पड़ गया था.

"लगा तो नहीं?" वह उसका सिर सहलाने लगा.

"नहीं. . . शादी क्यों नहीं कर ली आपने?"

"किससे?"

"उसी से."

"शादी हो नहीं सकती थी. वैसे मैं जोर देता तो शायद वह राजी हो जाती."

"जोर क्यों नहीं दिया आपने?"

"जोर देता तो आज तुम कैसे होती यहां?"

"मैं न होती तो क्या हुआ. वह तो होती. आपके लिए तो ठीक होता."

"क्यों?"

"आप उसे प्यार करते थे न."

"तुम्हें भी तो कर रहा हूं." वह फिर प्यार करने लगा.

"उसके खत दिखाऊंगा तुम्हें किसी दिन." अलग हुआ तो उसने कहा, "बहुत शरीफ लड़की थी."

"क्यों?"

"क्यों क्या, थी बस. एम.ए. में फर्स्ट क्लास आया था उसका."

"फर्स्ट क्लास आने से शरीफ हो गयी?"

"नहीं तो क्या बदमाश हो गयी."

"अच्छा, आजकल कहां है?"

"शादी हो गयी."

"कहां?"

"दिल्ली में. . . लेफ्टिनेंट है उसका हस्बेंड . . . आर्मी में."

"अब खत नहीं आते?"

"न."

"सब कुछ किया आपने उसके साथ?"

वह एक क्षण चुप रहा. तब बोला, "नहीं."

"जी भर के नहीं किया?"

वह फिर खामोश रहा. तब बोला, "अब भी अगर वह राजी हो तो मैं उससे शादी कर लूं."

"और मैं?"

"तुम भी रहोगी. लोगों के दो पत्नियां नहीं होती क्या?"

"दो से भी अधिक होती हैं."

उसने कोई उत्तर नहीं दिया.

"और तीसरी कौन थी?"

"वह थी एक. . . सीतापुर में. वहां कुछ दिनों एक कालेज में नौकरी की थी न मैंने."

"कौन थी?"

"जिस मकान में रहता था उसी के मालिक की लड़की थी."

"क्या नाम था?"

"नाम बताना जरूरी है?"

"न बताइए."

"शकुन नाम था."

"उसके साथ क्या किया आपने?"

"किया क्या. उसी के यहां रहता था. खाता भी उसी के यहां था. एक तरह से पेइंग-गेस्ट था. उसमें भी बातचीत होती थी. कोई पर्दा नहीं था. वहीं धीरे-धीरे संबंध डेवलप हो गये. बस, संपर्क की बात

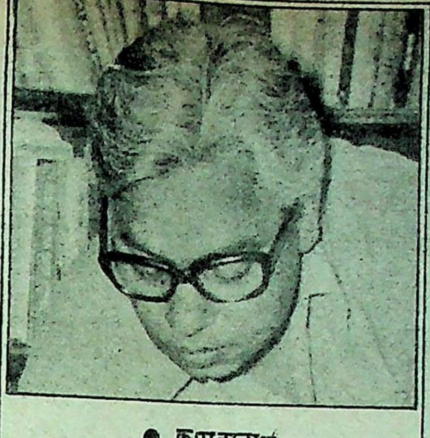

● कामतानाथ

होती है यह. कोई भी स्त्री पुरुष कुछ दिनों एक-दूसरे से मिलते रहें तो अपने आप संबंध बन जाते हैं."

"उसके साथ तो जरूर सब कुछ किया होगा आपने. वह तो साथ ही रहती थी."

"एक बात बताऊं. विवाहित थी वह."

"पति कहां था उसका? वह साथ नहीं रहता था?"

"ससुराल वालों से कुछ झगड़ा हो गया था. इसी से मायके में रहती थी. मेरे सामने एक बार उसका पति आया भी था उसे लेने. लेकिन वह गयी नहीं."

"आपने रोक लिया होगा."

"मैं क्यों रोकता?"

"फिर क्यों नहीं गयी?"

"क्या पता. न संतुष्ट होगी अपने पति से."

"बच्चे भी थे उसके?"

"न."

"और कौन-कौन था घर में?"

"मां-बाप थे और एक छोटी बहन थी."

"छोटी बहन से भी आपका कुछ रहा होगा."

"वह बहुत छोटी थी. सात-आठ वर्ष की."

"तब तो आप को खुली छूट रही होगी. उम्र क्या थी उसकी?"

"मुझसे कुछ बड़ी ही थी. . . छब्बीस-सत्ताइस रही होगी."

"फिर तो अच्छी-खासी बड़ी थी."

"क्यों छब्बीस-सताइस बड़ी उम्र होती है क्या?"

"और क्या?"

"तुम्हारी क्या उम्र है?"

"बीस-इक्कीस होगी."

"तब तो तुम अभी बच्ची हो."

"हि . . . अच्छा नहीं कहूंगी."

उसका हाथ बीच में ही रुक गया. वह फिर खिलवाड़ करने लगा.

"अच्छा अब तुम बताओ." थोड़ी देर बाद उसने कहा.

"मैं क्या बताऊं. मेरा कभी किसी से कुछ रहा ही नहीं."

"देखो, झूठ मत बोलो."

"कसम खाती हूं मैं."

"कसम-वसम में तो मैं पहले ही कह चुका हूं, मुझे विश्वास नहीं."

"फिर कैसे विश्वास दिलाऊं आपको."

"विश्वास होगा ही नहीं मुझे."

"मानिए तो आप."

"मानने की इसमें क्या बात है. मैं तुम्हारे ऊपर कोई दोष तो मढ़ नहीं रहा. मैंने नहीं सब बता दिया तुमको. जैसा कि मैंने कहा, इसमें किसी का कोई दोष होता ही नहीं. यह तो बस, संपर्क की बात होती है."

"मैं कब कहती हूं संपर्क की बात नहीं होती. लेकिन मेरा कभी किसी से संपर्क रहा ही नहीं."

"तुम्हारे अड़ोस-पड़ोस में कोई लड़का नहीं रहता था?"

"कई रहते थे. लेकिन मेरे यहां कोई आता-जाता नहीं था. मेरे पापा इस मामले में बड़े स्ट्रिक्ट हैं."

"अच्छा, पढ़ी तुम कहां?"

"दयानंद ऐंग्लो गर्ल्स कालेज में."

"को-एजूकेशन नहीं थी वहां?"

"न."

"घर पर कोई पढ़ाने नहीं आता था?"

"हाई स्कूल में एक मास्टर साहब आते थे."

CC-0. In Public Domain.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"क्या उम्र थी उनकी?"

"रही होगी साठ-बासठ वर्ष."

"रिश्तेदारी वगैरह में भी कभी किसी लड़के से कोई संपर्क नहीं हुआ?"

"न."

"सहेलियों के यहां तो आती-जाती होगी."

"आती-जाती क्यों नहीं थी."

"उनके भाई-वाई नहीं थे?"

"थे क्यों नहीं."

"तुमसे बातचीत नहीं होती थी उनकी?"

"मुझसे क्यों होगी!"

"क्यों का क्या प्रश्न है. आजकल तो सब चलता है, बल्कि आजकल तो लड़कियां खुद अपने भाइयों के लिए प्रेमिकाएं जुटाती हैं ताकि उनको छूट मिल जाये."

"मेरी सहेलियां ऐसी नहीं हैं."

"तो कभी तुम्हारा किसी से कोई भी संपर्क नहीं रहा?"

"न."

"बड़ी बदकिस्मत हो तुम."

"क्यों?"

"प्यार में क्या आनंद होता है यह तो करने वाला ही जानता है. या फिर वह जिसे प्यार किया गया हो." वह एक क्षण चुप रहा तब बोला, "अच्छा, ऐसा भी नहीं हुआ कि तुम किसी को चाहती रही हो लेकिन तुम्हें अवसर न मिला हो?"

"न."

"या फिर कोई तुम्हें चाहता हो और उसे अवसर न मिला हो?"

"अब इसका मुझे क्या पता."

"सब पता चल जाता है."

वह चुप रही.

"बताओ न. मैंने नहीं बता दिया सब. आखिर अब कोई तलाक तो दे नहीं दूंगा तुम्हें. और फिर अगर किसी ने तुम्हें चाहा तो इसमें तुम्हारा क्या कसूर."

वह फिर भी चुप रही.

"नहीं बताना चाहती तो मत बताओ."

"वैसे तो मुझे पता नहीं." उसने कुछ देर बाद कहा, "हां, कालेज जाती थी तो एक लड़का मुझे अक्सर दिखायी पड़ता था. दो-चार बार मेरे पीछे-पीछे आया भी कालेज तक. लौटते समय भी दिखा दो-एक बार."

"बात नहीं की कभी तुमसे?"

"न."

"वैसे ही बगल से निकलते हुए कोई डायलाग बोला हो कभी?"

"न. बस, देखता था और कभी-कभी पीछे-पीछे या फिर सड़क की दूसरी पटरी पर चलता रहता था. काफी सीधा था."

"इसके मायने तुम्हारे दिल में जगह थी उसके लिए."

"मेरे दिल में क्यों जगह होने लगी."

"सीधा कह रही हो न तुम उसे."

"तो क्या बदमाश कहूं. कभी ऐसी हरकत तो की नहीं उसने?."

"लड़कियों का पीछा करना शरीफ आदमियों का काम है?"

"तब तो फिर बदमाश ही कहेंगे."

वह कुछ देर चुप रहा. तब बोला, "कभी कोई लेटर नहीं दिया उसने?"

"न."

"कसम खाके कह रही हो?"

"हां."

"अच्छा, मेरे सिर पर हाथ रखकर कहो."

"आप तो कह रहे थे कसम में विश्वास ही नहीं करते."

"तुम तो करती हो?"

"मैं भी नहीं करती."

"फिर पहले क्यों कसम खा रही थीं?"

"वह तो वैसे ही बोलचाल में आदमी के मुंह से निकल ही जाता है."

"खैर, तुम मेरे सिर पर हाथ रखकर कहो कि उस लड़के से तुम्हारी कभी कोई बातचीत नहीं हुई. न कोई खत-किताबत हुई."

"किस लड़के से?" उसने अपना हाथ उसके सिर पर रखते हुए कहा.

"उसी लड़के से जिसके बारे में तुम अभी बता रही थी."

"आपकी कसम नहीं हुई."

"पूरी बात कहो."

"आपकी कसम उस लड़के से मेरी कोई बातचीत, चिट्ठी-पत्री नहीं हुई." उसने शब्दों को चबाते हुए साफ-साफ कहा.

लड़का कुछ बोला नहीं. उसको अब भी विश्वास नहीं हो रहा था.

कुछ क्षण खामोशी के बीते तब लड़की ने कहा, "नाराज हो गये क्या?"

"नहीं तो."

"फिर चुप क्यों हो गये?"

"तो क्या सारी रात बक-बक करता रहूं!" लड़के का स्वर काफी बदला हुआ था. लड़की अचानक सहम-सी गयी. उसकी समझ में नहीं आया वह क्या कहे. □

● 44, उसमान एन्क्लेव अलीगंज, लखनऊ (उ. प्रदेश)

प्रचार-भावना

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

हिंदी में नयी कविता की तरह नयी कहानी की जो शैली प्रचलित हो रही है, उससे मुझे संतोष नहीं होता. अध्यापक होने के कारण पाठ्य-पुस्तक के रूप में मुझे ऐसे कहानी संग्रहों को पढ़ाना है जिनकी अधिकांश कहानियां मुझे अच्छी नहीं लगतीं हैं. कभी-कभी पाठ्य-पुस्तक के रूप में ऐसा ही उपन्यास पढ़ाना पड़ता है. जो निबंध संग्रह पढ़ाये जाते हैं वे भी मेरी समझ में छात्रों के लिए विशेष लाभप्रद नहीं. कभी-कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अब पाठ्य-पुस्तकों में भी प्रचार की भावना विशेष रूप से काम कर रही है. यह सच है कि हिंदी साहित्य पहले से अधिक समुन्नत हो गया है. फिर भी छात्रों के लिए जो पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जाती हैं उसमें छात्र के हित को प्रमुख मानना चाहिए. हिंदी में तो कभी-कभी यह कहा जाता है कि किसी विशेष लेखक की विशेष रचना को पाठ्य-पुस्तकों में अवश्य स्थान मिलना चाहिए. पाठ्य-पुस्तकों से प्रकाशकों को भी यथेष्ट लाभ होता है. इसीलिए पाठ्य-पुस्तकों के कारण साहित्य के क्षेत्र में भी एक प्रकार का भ्रष्टाचार आ गया है. मुझे तो अर्थ सिद्धि के लिए सभी तरह के काम करने पड़ते हैं. पर मैं जो कुछ करता हूं, अपनी ओर से परिश्रम करने में कोई बात नहीं उठा रखता. पर हिंदी में तो कितने ही लेखक हैं, वे जो चाहते हैं कर डालते हैं. और उन्हें सफलता भी मिल जाती है. □

('मेरी डायरी' का शुक्रवार 22 जनवरी, 1965 का एक पृष्ठ)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला और कलाकारों को जनता के संघर्ष के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ मानने वाले रचनाकारों में एक—नीलकांत बहुत कम कथालेखन करते हैं...पर जब भी उनकी कहानी आती है मानव मूल्यों से जुड़कर चलने की ललक साफ नजर आती है. प्रस्तुत है नीलकांत की एक ताजातरीन कहानी——

अनसुनी चीख

नीलकांत

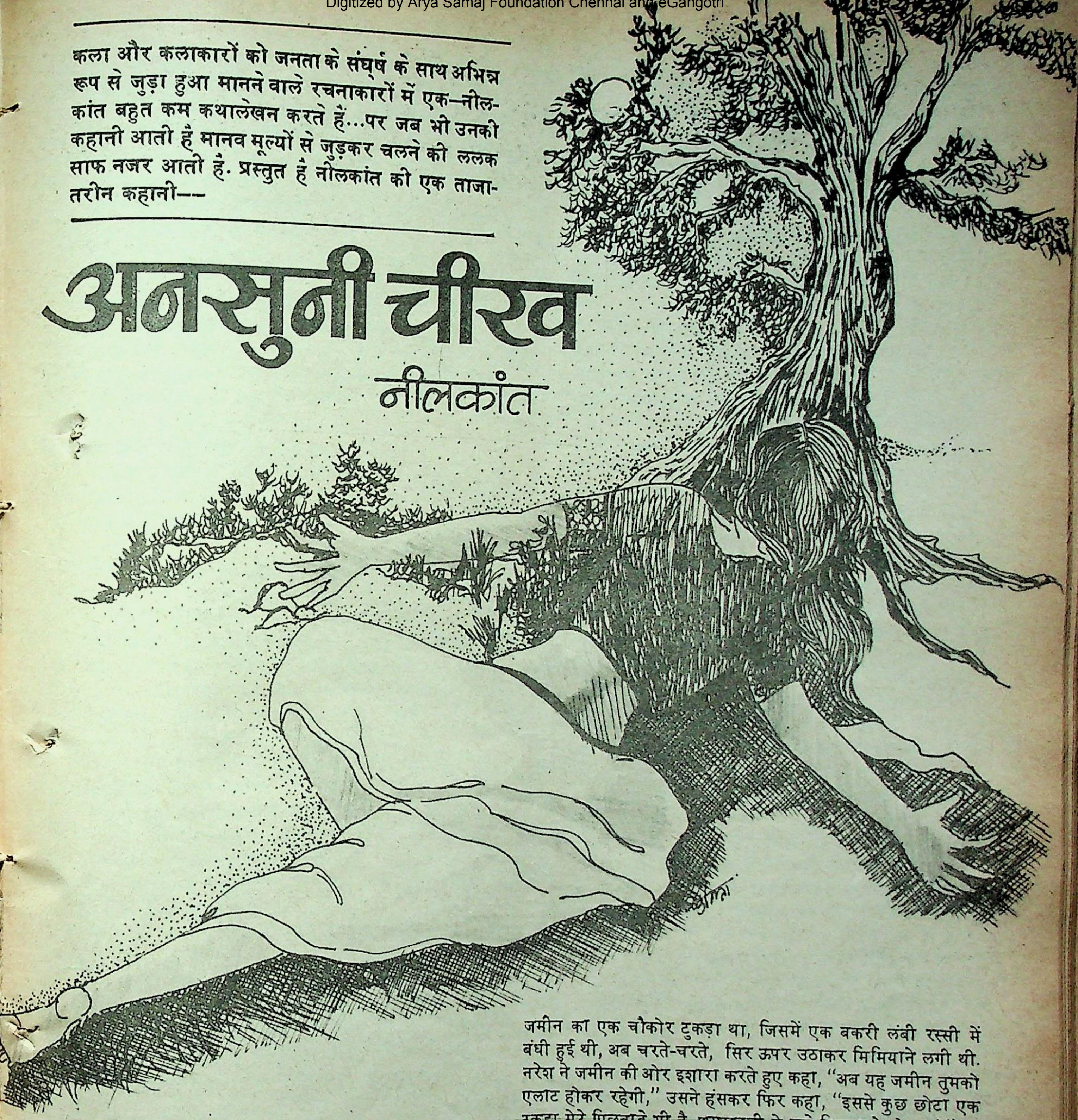

धरती अपने पृष्ठभाग में सूर्य को छिपाती हुई रोज की तरह उस दिन भी अपनी दैनिक गति का एक चक्र पूरा करने जा रही थी.

आहट पाकर सोनबरसा ने बांस का टट्टर हटा दिया और निकल कर बाहर आ गयी. देखा, गांव समाज का चपरासी नरेश बड़ी दुष्टतापूर्वक मुस्कराता हुआ सामने ही खड़ा था. उसके हाथ में एक पोटली थी, जिसे उस समय भी वह छिपाने का भरसक प्रयत्न कर रहा था. साथ ही दाएं-बाएं यह भी देख रहा था कि कहीं कोई गैर आदमी उन्हें वहां देख तो नहीं रहा है.

झोपड़ी बस्ती के किनारे पर थी, जिसके सामने पच्चीस डिसमिल जमीन का एक चौकोर टुकड़ा था, जिसमें एक बकरी लंबी रस्सी में बंधी हुई थी, अब चरते-चरते, सिर ऊपर उठाकर मिमियाने लगी थी. नरेश ने जमीन की ओर इशारा करते हुए कहा, "अब यह जमीन तुमको एलाट होकर रहेगी," उसने हंसकर फिर कहा, "इससे कुछ छोटा एक टुकड़ा मेरे पिछवाड़े भी है. परधानजी से मुझे दिलवा दे सोनवा!"

"मैं कैसे दिलवा दूंगी," औरत ने कहा और अपनी बेबसी जताते हुए बोली, "कब से तो इसी जमीन के लिए कह रही हूं. लेकिन कोई सुनवायी नहीं होती."

"इस बार सुनवायी होकर रहेगी. अब उसका मुहूरत आ पहुंचा है." यह कहकर नरेश ने गुलरोगन की एक छोटी शीशी और नहाने के साबुन की एक छोटी-सी बट्टी उसके हाथों पर रखते हुए कहा, "परधानजी ने भेजा है."

सोनबरसा ने दोनों सामान अपने हाथों में लेते ही छिपा लिया. उसे तुरंत यह समझते देर नहीं लगी कि आज उसे जाना ही होगा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि उसे बुलाया गया है. उसने सिर झुका लिया और पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदने लगी.

"खूब नहा-धोकर, गुलरोगन का तेल लगाकर आना," नरेश ने फुदकते हुए कहा, "तहसीलदार साब आज फिर पंचपेड़वा में आने वाले हैं."

सोनबरसा काठ हो गयी. पहले तो प्रधान ने उसे बहका-फुसलाकर अपना खैल बनाया, फिर जब वह बेवा हो गयी तो यह बात खुले में आ गयी. अपना तो अपना अब पिछले दिनों से उसे साहब-सूबा के सामने भी परोसा जाने लगा था. प्रधान से जब उसने इस पर अपना एतराज जाहिर किया तो उन्होंने कह दिया था, कि ये लोग कोई रोज-रोज आते हैं क्या?

एकाएक पंचपेड़वा की ओर से आती हुई जीप की घरघराहट सुनायी दी. फिर ढेर-सा धुआं फेंकती हुई, वह शिव मंदिर के चबूतरे से कुछ हाथ दूर, एक पेड़ की छाया में रुक गयी. नरेश और सोनबरसा के बीच समय गतिहीन होकर मानो ठहर गया. दोनों पंचपेड़वा की ओर एकटक देखने लगे.

"आ गये साहब लोग," नरेश ने सन्नाटा तोड़ते हुए कहा, "क्या सोच रही हो रानी? लो! अब तुम्हारा सितारा चमकने वाला है." यह कहकर एकाएक वहां से चल देने के लिए नरेश पीछे मुड़कर कुछ कदम आगे चल पड़ा, किंतु फिर रुक गया और वापस औरत के करीब आकर बोला, "अरे हां, अपना बिछावन भी लेते आना." इतना कहकर, वह फुर्ती से पंचपेड़वा की ओर चल पड़ा. सोनबरसा फिर भी जहां की तहां जड़वत खड़ी रह गयी. एकाएक मिमियाती हुई बकरी जमीन पर गिरकर छटपटाने लगी. इस बीच जब वह नरेश से बतिया रही थी, वह बकरी खूंटे के चारों ओर चक्कर लगाए जा रही थी, जिससे पूरी रस्सी खूंटे में लिपट गयी थी. आगे फिर चक्कर लगाने से उसके गले पर फंदा कसकर बैठ गया और घेघा लग गया. चित्त पड़ी चिल्लाती और छटपटाती बकरी की ओर वह तेजी से दौड़ पड़ी. बकरी को खूंटे से खोलकर उसे बांधने के लिए जब वह झोपड़ी में ले जा रही थी, उसी समय उसका दस वर्षीय बेटा मोहन आ गया. वह दूकान से नमक तेल लाने गया हुआ था. सोनबरसा ने जमीन को एक बार फिर गौर से देखा और उसके शरीर में सिहरन-सी दौड़ गयी. इतनी जमीन भी मिल गयी तो उसके मोहन के लिए खड़े होने भर को जगह मिल जाएगी. उसने दृढ़ निश्चय के साथ अपनी समूची देह को कड़ी कर लिया, मानो उसने एक अदृश्य सुरक्षा कवच पहन लिया हो.

दोपहर की बची हुई रोटी-दाल मोहन को दिखाकर, आंचल के नीचे साबुन-तेल छिपाती हुई, सोनबरसा घीपोखर के किनारे चली गयी.

ग्राम-प्रधान को तहसीलदार के आने की खबर पहले से ही रही होगी, तभी तो उनके स्वागत की सारी तैयारियां पूरी की जा चुकी थीं. चैत की हल्की गुलाबी सर्दी में रम की बोतल, घी और मसाले में भूनी हुई मुर्गे की टांगें, एक प्लेट में उनके सामने रख दी गयी थीं. तहसीलदार के साथ उनका नायब, पटवारी और एक चपरासी भी अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार मुर्गे के अलग-अलग भागों की भुनी हुई बोटियों पर दांत गड़ाए हुए थे. खाने की तारीफ करते हुए वे खाए जा रहे थे. बीच-बीच में प्रधानजी मुंह चलाना बंद करके उन्हें 'कुछ और' के लिए पूछ लिया करते. नरेश परोसने में लगा हुआ था. जब-तब ऊंचे चबूतरे पर बैठा हुआ शिव मंदिर का पुजारी बैल की आवाज में 'शिव-शंभो' की पुकार लगा दिया करता था.

"साहब, कुल अस्सी एकड़ जमीन गांव समाज के खाते में है," पटवारी ने मगन होकर कहा, "बस कुल तेरह एकड़ जलखाता है, और इसका आबंटन करना मना है."

तहसीलदार इस समय मुर्गे की एक टांग पकड़ कर नोच रहा था. इसलिए एक छोटी-सी 'हूं' कहने के बाद उसने आगे फिर कुछ नहीं कहा. आगे रम से भरा गिलास नाच रहा था.

"इस बार सिर्फ तीस एकड़ का आबंटन होगा," मुर्गे की पसली में दांत गड़ाते हुए नायब ने कहा.

"हरेक को पच्चीस डिसमिल से लेकर एक एकड़ तक." पटवारी ने गर्दन पर दांत चलाते हुए कहा.

प्रधान ने एक खोखली हंसी हंसते हुए कहा, "यह सरकार भी क्या-क्या तमाशे दिखाती है!" रम का एक गिलास हलक में उतारते हुए वह कहने लगे, "जमीन हमारे बाप दादों की है. फोकट में कैसे दे दी जाएगी?"

अपने-अपने मुंह में मांस की बोटी दबाए हुए सभी लोग हंस पड़े. पुजारी ने 'शंकर-शंभो' की आवाज देकर गांजे की चिलम दोनों हाथों में दबा ली, फिर मुंह जमाकर जोर से दम मारी—चिलम से लप उठकर जलने लगी. उसने फिर 'शिव-शंभो' की पुकार लगायी.

"हुजूर, बिस्वे पीछे कम से कम पांच सौ रुपये फी आदमी से." पटवारी ने सुझाते हुए कहा, "लगभग साढ़े चार लाख की नकद रकम खड़ी है!"

"सरकार ने हमारे लिए सौगात भेजी है," खाना खा लेने के बाद उठते हुए तहसीलदार ने कहा. फिर हाथ मुंह धो लेने के बाद, नरेश के हाथ से गमछा लेकर पूरा चेहरा रगड़कर पोंछ लिया. तश्तरी में रखी पान की गिलौरी लेकर अपने जबड़े में दबाते हुए, फिर वे अपने बिस्तरे पर आकर लेट गये.

अब तक खाना-पीना समाप्त हो चुका था. अंत में खानेवाला नरेश ही बचा था.

चैत का महीना, बौरों से लदी आम की सघन अमराई, मंद हवा के लहरों में घुली हुई मादक गंध और बीच-बीच में कूकती हुई कोयल. तहसीलदार के खयालों पर खुमार की एक और पर्त छाने लगी. इसी जगह की पिछली यादें उनके मन में एक बार फिर जग पड़ीं.

"प्रधानजी," उन्होंने अपनी मनःस्थिति बताते हुए कहा, "यह तो पिछले साल की रात फिर लौट आयी है!"

"आपका इशारा मैं समझ गया," तहसीलदार के बगल में ही दूसरी चारपाई पर लेटे हुए प्रधान ने कहा और तत्काल उठकर बैठ गये. नरेश इस समय खा रहा था. प्रधान चारपाई से उठकर कुछ दूर जाकर खड़े हो गये और वहीं से नरेश को आवाज देकर बुलाया.

"आया दादा!" खाना छोड़कर नरेश दौड़ा हुआ आया और आगे झुकते हुए उनके पास खड़ा हो गया. रात के बारह बज गये थे.

"सोन बरसी. . .?" आहिस्ता से उन्होंने नरेश से पूछा.

"आ गयी है," नरेश ने और भी धीमे से कहा, "बेलवा के नीचे बिछाकर बैठी है."

बेलवा बड़े कड़े छिलकेवाला, बगीचे भर में एक सरनाम पेड़ था, जिसके फल बेल के आकार के होते थे और जिसकी डालें पत्तियों और बौरों से लदर-बदर ढंकी हुईं, जमीन तक छितरी हुई थी. उसी के नीचे अपनी मैली-सी कथरी बिछाकर सोनबरसा बैठी हुई थी. नरेश एक बार बीच में उससे यह कह गया था कि ढेर सारा खाना बच रहेगा—साहब लोग खा लेंगे तो तुम्हारे लिए लेकर आऊंगा.

"तुम जाओ." नरेश को आदेश देकर प्रधान खुद लौटकर तहसीलदार की चारपाई के पास आकर खड़े हो गये. तहसीलदार का हाथ पकड़कर, उन्हें सहारा दे, उठाते हुए, शेष लोगों से कुछ दूर ले जाकर बोले, "सोन बरसी की याद आपको सता रही थी न? वह आ गयी है."

"कहां है?" तहसीलदार ने मानो अपनी मुराद का पता पा लिया हो.

"चलिए, आपको वहीं ले चलता हूं." प्रधान ने कहा.

वे खुरदार जंतुओं की तरह जमीन पर अपने पैर रगड़ते हुए चलने लगे. बगीचे में नीचे बिछी हुई सूखी पत्तियां और लकड़ियां उनके पैरों तले चरमराकर टूट रही थीं. बेलवा से कुछ कदम दूर पर ही वे ठिठक गये, जहां उनके जिस्म पर घना अंधकार काले झबरीले बालों की तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उग आया था. पांच-सात हाथ की दूरी पर, गाछों से छनकर आती हुई चांदनी की बूंदा-बांदी के बीच, जलपरी की तरह तिरती हुई एक औरत की ओर उंगली दिखाकर, प्रधान ने कहा, "वह रही आप जाइए!"

"आप भी आओ न?" तहसीलदार ने बेलौस होकर कहा, "हमारी संस्कृति में यह भी है. एक नारी अनेक पुरुष. आप खजुराहो कभी गये हैं?" तहसीलदार ने पूछा.

"नहीं, लेकिन सांख्य दर्शन में पुरुषों के साथ प्रकृति का भी स्वरूप इसी तरह का बताया गया है." प्रधान ने कहा.

"आप तो तत्त्व-ज्ञानी हैं, फिर संकोच कैसा?" तहसीलदार ने कहा.

"नहीं, आप अतिथि हैं. पहले आप भोग लगा लें." प्रधान ने दबी आवाज में कहा, फिर हौले-से तहसीलदार को आगे की ओर ठेल दिया. तहसीलदार के कदम आप से आप उस दिशा में बढ़ने लगे.

अपनी ओर किसी को आता हुआ अनुमान करके, सोनबरसा उठ खड़ी हुई. उसने सोचा नरेश होगा. बुदबुदाकर वह धीमे से बोली, किंतु शब्द शंकाकुल आलाप में बदल गये. एक लंबी सांस खींचकर, अपने में सिकुड़ती हुई, वह खड़ी रह गयी. तहसीलदार ने उसके कंधों को सहारा लिया और फिर औरत के साथ कथरी पर लड़खड़ाते हुए बैठ गया.

सोना ने अपनी देह पर जोंक जैसी उंगलियों को जगह-जगह चुभते हुए अनुभव किया, फिर एक हाथ अपनी कमर पर और दूसरा अपने जूड़े पर. बालों से गुलरोगन की खुशबू उठ रही थी. वह पत्थर की तरह कठोर हो गयी.

"बोलो सोना, तुम क्या चाहती हो?" एक मुट्ठी में उसके बालों को भरकर तहसीलदार ने खेलते हुए कहा, "जो कहेगी, आज वही होगा. इस गांव में बीस सूत्री कार्यक्रम का पहला लाभ तुम्हारे नाम!"

गो, सोना बीस सूत्री का मतलब कण मात्र नहीं समझती थी, फिर भी उसने कहा, "सरकार मेरी झोपड़ी के सामने पच्चीस डिसमिल जमीन है. उसे हमको दे दो." पिछले साल वाले तहसीलदार को पहचनाकर उसने झिझक छोड़कर कहा.

"चलो वह भी तुमको मिल गयी. और बोलो?"

"हुजूर, नरेश के पिछवाड़े एक टुकड़ा जमीन है. वह उसे दे दो." उसने नरेश की सिफारिश भी कर दी.

"यह भी हुआ. वह उसको मिल गयी." यह कहकर, तहसीलदार ने उसके कंधों पर हाथ रख कर दोनों हथेलियों को उसकी गर्दन पर मिलाते हुए, सोना को तनिक अपनी ओर झुकाकर कहा, "सोना तुम अपने को बेवा समझती हो? ऐसा भूलकर मत समझना. तुम अभी जवान हो. मर्द के बिना औरत अधूरी होती है."

अपना मुंह छिपाती हुई सोनबरसा अपनी गर्दन पर पड़े हुए हाथों को हटाने लगी. उसे मौका देने के लिए, तहसीलदार ने कुछ पीछे हटते हुए पूछा, "सोना तुम हमको अपना नहीं समझती?"

"मानती हूं सरकार," उसने कहा, "आप हमारे सरकार हैं."

"फिर क्यों मुझसे दूर हो रही हो? अपने मर्द की याद आ रही है?"

"हां सरकार, हमारा मर्द सचमुच एक मर्द था. वह बंबई में चौपाटी पर चने और लाई बेचा करता था. हमको वह बहुत मानता था." अभी वह अपनी बात पूरी भी नहीं कर पायी थी कि बेलवा के तने के पीछे किसी के पैरों की आहट सुनाई दी. वह उछल पड़ी और खड़ी हो गयी. वह आदमी स्वयं प्रधान थे.

"सोनबरसी मैं हूं. वहीं बैठी रह." प्रधान ने आदेश दिया.

पास आकर प्रधान भी उसी कथरी पर बैठ गये. "खूब, बहुत खूब!" तहसीलदार ने कहा, "यहां. आकर आपने संस्कृति का उल्लंघन नहीं किया है! आपको क्या द्रौपदी का ध्यान हो आया!"

"आप सोनबरसी को नहीं समझ सकते. यह हमारी भोग्या है. इसीलिए इसे बनाया गया है. यह हमारी प्रजा है." प्रधान ने कहना शुरू किया, "गो, यह विधवा हो गयी है, तो भी मैंने इसे क... दिया. इसका पति बंबई में रहता था, तब भी यह मेरी ही थी. तीस साल की हो गयी है, लेकिन फिर भी इसकी देह बेलवा आम की तरह कसी-कड़ी है. हमारी औरतें इस उम्र में ढलने लगती हैं. यह कहकर प्रधान ने सोना का हाथ पकड़ कर बैठा लिया. इस बार वह प्रधान और तहसीलदार के बीच में थी.

"सोनवां, बोल तुझे क्या चाहिए?" प्रधान ने भी नशे में झूमते हुए पूछा.

"सरकार, बस वही पच्चीस डिसमिल जमीन." उसने कहा.

"वह तो तुझे पहले ही दे दिया." प्रधान ने कहा, "और कुछ?"

"हमारे देवर कहते हैं—वह जमीन प्रधान ने उन्हीं को देने का वादा किया है. कहते हैं, वह प्रधान को तीन हजार रुपये दे चुके हैं." सोनबरसी ने बड़ी सरलता से अपनी बात कह दी.

"आह! हरामजादी, पैसा तो मैंने कितने लोगों से ले रखा है. एकी जमीन के टुकड़े पर दो-तीन लोगों तक से! जो ज्यादा से ज्यादा देगा, जमीन उसी को मिलेगी. तेरे सामने की जमीन तेरी है. उसे कोई छू भी नहीं सकता." प्रधान ने अंतिम बात को छोड़ कर, सारी बातें सच ही कह दी थीं.

"एक कोने में उसी में उन्होंने पेड़ लगा दिया है. सरकार को मैंने पहले भी बताया था." सोनबरसा ने कहा.

"वह पेड़ भी तुम्हारा है. सारा पंचपेड़वा, सारा गांव तुम्हारा है. चलो! अब न रूठो, नखरा न दिखाओ! आओ, इधर आओ." प्रधान ने उस पर हाथ चलाते हुए कहा.

सूखी पत्तियों और लकड़ियों की चरमराहट फिर सुनाई दी. मांसभोजी जानवर जैसे गंध पाकर एक ही दिशा में, आगे पीछे चलकर, उस निश्चित स्थान पर पहुंच जाते हैं, वैसे ही अब नायब आगे-आगे, उसके पीछे पटवारी, और कुछ कदम पीछे तश्तरी में गिलास और बोतल लिए हुए चपरासी भी बेलवा की अंधेरी छाया के करीब आकर खड़े हो गये. तहसीलदार ने नायब को आवाज दी, आगे बढ़ते हुए उसने पटवारी को, र उसने चपरासी को. नायब ने अपनी कूबड़ निकालते हुए झुककर,

इसराइल की कहानियां

इसराइल की अधिकांश कहानियों की दुनिया राजनीतिक रूप से चेतन होते, मुक्ति की नई दिशा तलाशते उन मजदूरों और आम लोगों की है, जो तरह-तरह की राजनीति और झंडों का फर्क समझते हैं. कहानी में आती यह चेतना आकस्मिक या आरोपित नहीं है, स्वाभाविक रूप से कहानी की अनिवार्य परिणति है. संबंधों के अंतर्द्वंद्व की प्रेम-कहानी 'दर्द का रिश्ता' हो या 'पत्थर की ओस' का अमानवीय होता वातावरण, जीवन की जटिलता को सुलझाती जटिल बुनावटवाली कहानी 'अर्थहीन' हो या गांव से लायी लोक-कथा की जमीन पर कलकत्ता के फुटपाथी जीवन की 'अधूरी कथाएं', इसराइल की प्रामाणिकता कहीं भी उनकी वर्ग-दृष्टि को न तो अतिरंजना का शिकार होने देती है और न कला की उपेक्षा करने देती है. अपवादस्वरूप 'सोमा' जैसी अनेक कुछेक कहानियों को लिया जा सकता है, जहां अपेक्षित धैर्य और संतुलन के अभाव में कहानी का स्वाद पाक-कला की किताबों के सूत्रों के आधार पर बने व्यंजन-सा लगता है.

भाषा और भाव दोनों ही स्तरों पर इसराइल अपनी पीढ़ी के एकमात्र ऐसे कथाकार हैं, जो हर तरह के विजातीय प्रदूषणों से मुक्त खांटी देशी हैं. उनके समकालीन समर्थ वामपंथी कथाकार भी जब मध्यवर्गीय संबंधों के भूगोल में भटक रहे थे, इसराइल अपने दौर के मूल्यों के अस्वीकार को अपने उन पात्रों द्वारा स्वीकार में बदल रहे थे, जो मौजूदा हालात को हू-ब-हू स्वीकारने से इंकार कर रहे हैं. ▣

(हिंदी कहानी सन '60 के बाद और इसराइल : गोपेश दीक्षित)

CC-0. In Public Domain. Gurukul K

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूछा, "हुजूर यह औरत क्या चाहती है? यह कौन है?"

"यह एक भूमिहीन गरीब औरत है. इसकी झोपड़ी के सामने की पच्चीस डिसमिल जमीन है. उसे इसके नाम पता कर दो." तहसीलदार ने आदेश दिया.

"पटवारी, सवेरा होते ही, तरमीम के साथ, जमीन का पट्टा इसे दे दो." नायब ने पटवारी को आदेश दिया.

"बहुत अच्छा सरकार," पटवारी ने कहा, "मगर जमीन मुफ्त में लेकर यह हमें क्या देगी?"

"मैं एक गरीब औरत हूं सरकार. . . !" सोनबरसा ने कहा.

"हां! तुम गरीब हो? ना!" तहसीलदार ने कहा, "तुमने ही अमीर को अमीर बनाया है. एक समझदार ने खूब कहा है—अमीरों को गरीबों ने बनाया है. बहुत खूब! सोना इस समय तुम हम सबकी मालकिन हो."

सोनबरसा जो अब पांच लोगों के घेरे में थी, उसके कंधे पर हाथ रखकर तहसीलदार ने कहा, "क्यों?"

"है! है!" प्रधान ने कहा.

सोनबरसा का हृदय धड़कने लगा, किंतु अपनी घबराहट को छिपाते का प्रयास करती हुई वह हंसने का बहाना करने लगी. वह एक डरी हुई हंसी थी. उसने तहसीलदार के हाथों को अपने कंधे से अलग करने की कोशिश एक बार फिर की, किंतु वे हाथ उसकी देह पर सख्त होते जा रहे थे. उसे एकाएक लगा, जैसे उसकी छाती पर किसी सांप ने फन रख दिया हो. सोनबरसा के सारे बदन में प्रतिरोध की लहर दौड़ गयी, तो भी उसमें उग्रता नहीं ही थी. मगर प्रधान ने इस मामूली से प्रयास को भी गुस्ताखी समझ लिया और फौरन अपने हाथों से उसकी दोनों टांगें पकड़कर चीरने लगे.

"देखो सोना, इतने आदमी तुम्हारे हैं. तुम इन्हें छोड़कर नहीं जा सकती." कहकर, नायब ने उसका एक हाथ पकड़ लिया, मानो यह तहसीलदार का आदेश हो.

इतने हाथों से बचने के लिए इस बार वह छटपटाने लगी और उसकी हरकतों में उग्रता बढ़ने लगी. उसने सांस रहते समर्पण न करने का निश्चय कर लिया. यह दृढ़ निश्चय उसके प्रतिरोध को बल देने लगा. पुरुष तंत्र के लिए यह एक चुनौती थी. उसकी छटपटाती बोटियों को शिथिल मुद्रा में ढालने के लिए, उन सबों ने मिलजुलकर एक साथ जोर लगाया. तब वह बेबस होकर अपने घर से लायी हुई कथरी पर पीठ के बल गिर पड़ी और तड़पने लगी. पटवारी ने उसके दूसरे हाथ को खींच कर घुटनों के बल दबा लिया और फिर दोनों हाथ खाली करके उसके गले पर रखते हुए, अपने शरीर का वजन डाल दिया. चपरासी ने तश्तरी नीचे जमीन पर रख, औरत की चोटी पकड़कर तान दिया, जिससे उसका मुंह कुछ खुल गया. सोनबरसा के मुंह से हल्की-सी आह निकल पड़ी.

"जमीन तुझे दे दी गयी. इतने पर भी तू छटपटाती है. सोनबरसा अब खुश हो जा. तू हम सबकी जमीन है." प्रधान ने कहा. "तहसीलदार साहब, आइए!" प्रधान ने उसके आधे भाग से मटमैली धोती हटाते हुए अतिथि को निमंत्रित किया.

सोनबरसा का मुंह भय से कान तक फट गया, पुतलियां बाहर निकल आयीं और मुंह की रक्तिम गहराई में उसकी जीभ निशब्द दीप शिखा की तरह थरथराती हुई दिखाई दी. अपनी सांसों को वह उस अंतिम बिंदु पर रोके हुए थी, जहां से निकलने वाली चीख उसके कलेजे को कई टुकड़ों में तोड़ डालने का वेग संचित कर चुकी थी.

नरेश जब थाली में सोनबरसी के लिए खाना लेकर, बेलवा के निकट आया, तो वहां एक भयानक खजुराहो देखकर डर गया और उल्टे पांव वापस लौट गया.

"पटवारी, इसके मुंह में कपड़ा दे दो, चीखना चाहती है." तहसीलदार ने कहा और पूरी ताकत के साथ उस पर आक्रमण कर दिया.

पटवारी ने उसी का धूल भरा आंचल, उसके मुंह में भर देने के लिए उसी की धोती का एक सिरा खींचना शुरू कर दिया. उसका गेहुआं वक्ष बेपर्दा हो गया, जिस पर चांदनी की बूंदें टपकती हुई, दूधिया आंसू की तरह ढुलक पड़ती थीं.

सोनबरसा ने एक कर्कश, कर्ण भेदी चीख मारी, जिसमें उसके बिखरते-टूटते कलेजे की आवाज भी शामिल थी.

'मेरा बेटा अकेला है मुझे छोड़ दो, छोड़ दो!' किंतु उनमें से किसी ने उसकी याचना के शब्द नहीं सुने.

तीखे नख-दंतों वाले जंतुओं की तरह वे उसकी देह पर टूट रहे थे. इसी बीच पटवारी ने उसके मुंह में उसका आंचल समेटकर पूरी तरह भर दिया था.

अमराई की सारी रौनक जाती रही. बेलवा की एक एक पत्ती खुली पलक रहित आंखों की तरह निस्पंद हो गयी. शायद अब उसमें फल भी न लगे. बौरों ने अपने सुगंध के स्रोत बंद कर दिए. यहां तक कि चांद भी डूब गया. चहक-चहक कर कूकते कोयल के जोड़े सहमे मन से आधी-अधुरी आवाजें देकर, फिर एकदम चुप हो गये. घोर, अंधेरा सन्नाटा छा गया. पंचसिरे पिशाच की दस भुजाओं और दस टांगों के बीच, वह आंधी में टूटी हुई एक छतरी की तरह छिन्न-भिन्न होकर दम तोड़ चुकी थी.

सबसे पहले पटवारी का नशा काफूर हुआ. जब उसने दूसरे लोगों को इस बात की सूचना दी तो एक एक करके सबका नशा उतर गया. जब वे उसे छोड़कर अलग हुए तो उसकी देह आत्म-समर्पण की पाषाणी मुद्रा में ढल चुकी थी.

कुछ पल बाद ही जीप की घरघराहट, अंधेरे में उठ खड़ी हुई, फिर वह भी अंधेरे में गोता लगा गयी. सन्नाटा पहले की तरह फिर लौट आया. अंधकार और सन्नाटा. बेलवा के नीचे एक मैली-सी कथरी पड़ी रह गयी थी.

किसी लोकातीत सत्ता की अंतिम इच्छा की तामील करके अंततः कर्मचारियों ने यह सिद्ध कर दिया था कि भूमिहीनों को जमीन की जरूरत कतई नहीं है. ▣

● 633, कर्नलगंज, इलाहाबाद

प्रेम की भावनाएं

कलावादी कहानीकारों और समीक्षकों को अक्सर यह कहते सुना जाता है कि प्रगतिशील कहानीकार यथार्थवाद की लाठी भांजते रहते हैं और वे प्रेम जैसे उदात्त विषय पर कहानियां नहीं लिखते. प्रेम से इन महानुभावों का तात्पर्य समाज-प्रेम, देश-प्रेम, पिता-प्रेम, माता-प्रेम, पुत्र-प्रेम और बंधु-प्रेम न होकर केवल लड़का-लड़की प्रेम ही है. स्त्री पुरुष प्रेम प्रसंगों को लेकर हिंदी में जो कहानियां लिखी गयी हैं उनमें भैरव प्रसाद गुप्त की 'आंख क्यों भर आयी है?' शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' और मार्कंडेय की 'प्रिया सैनी' शीर्षक कहानियों का अपना विशिष्ट महत्त्व है. क्योंकि इन कहानियों में प्रेम की अबौद्धिक और भावुकतापूर्ण अभिव्यंजना नहीं की गयी बल्कि उसे मानवीय संबंधों के सामाजिक यथार्थ के एक अंग के रूप में मार्मिक प्रसंग के तौर पर चित्रित किया गया है.

किसी भी युग के प्रेम-प्रसंग आसमान से नहीं टपकते, न ही वे हवा में उत्पन्न होते हैं. अपने युग के सामाजिक संबंधों का यथार्थ ही प्रेम और नफरत के भाव जगाता है. इसीलिए हर युग का प्रेम एक-जैसा नहीं होता. यदि आज कोई प्रेमी शरत के देवदास की तरह आचरण करे तो उपहासास्पद होगा लेकिन पिछले युग का प्रेमी (देवदास) हमारी करुणा और सहानुभूति का पात्र है. ऐसा क्यों? इसी से स्पष्ट है कि प्रेम की भावनाएं भी युग और समाज-सापेक्ष नहीं होतीं. उनमें भी बदलाव और गुणांतर होता रहता है. इसीलिए मीरा और महादेवी की प्रेम संबंधी भावनाओं में अंतर आ जाता है. ▣

('मूल्यांकन' के कहानीकार मूल्यांकन विशेषांक में राजकुमार सैनी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढहता कुतुबमीनार

मेहरून्निसा परवेज

अपनी पीढ़ी की उल्लेखनीय महिला कथाकार मेहरुन्निसा परवेज की कहानियां जिंदगी के उलझे हुए समीकरणों को समझने-समझाने की गर्ज से चर्चित रही हैं. एक व्यक्ति का अस्तित्व कितना महत्वपूर्ण रह जाता है.. यदि वह अपने ही समाज से अलग-थलग हो जाये ! प्रस्तुत है लेखिका की नव्यतम कहानी––

सुमेर चला गया था. वह जैसे ही उसकी आंख से ओझल हुआ एक विचित्र से खालीपन के एहसास ने उसे दबोच लिया. आज उसे लगा आज जीवन की अंतिम आस की डोर भी टूट गयी, जिसके सहारे उसका मन बंधा था. उसे लगा उसका अपना शरीर खाली डिब्बे सा टनाटना उठा है.

मन का वह साहस जो अभी कुछ देर पहले तक कुतुबमीनार-सा खड़ा था, अब कमजोर, दब्बू, बूढ़ा-सा बन अचानक भरभरा कर बैठ गया है. उसने जिंदगी में इतना थका हुआ अपने को नहीं पाया था. हमेशा हर परेशानी में कोई न कोई विश्वास की रेखा थी जो उसे संभोले रहती थी. पर आज लगा अब कुछ डूब गया है. भयानक प्रलय आयी और सब कुछ डुबाकर अपने साथ समेटकर ले गया. . . विश्वास, आशा, साहस और उसका अपना आत्मबल जो उसकी जमापूंजी था. वह सारा आज बाढ़ में बह गया और वह इन शक्तियों के बिना बेजान लाश बनकर रह गयी है.

वह लौटकर वापस कमरे में आ गयी. दरवाजा उसने भीतर से बंद कर लिया था, कसकर पर अभी भी लग रहा था, कुछ जो कमरे में गूंज रहा था. सोफे पर वह डरी-सी बैठ गयी. कमरा. . . . कमरा एकदम खाली था. खाली कुर्सियां, खाली कमरा, पर उसमें अब भी जैसे सुमेर के होने का एहसास था. सुमेर के शब्द अभी भी कमरे में पंखहीन पक्षी की तरह कमरे में पड़े छटपटा रहे थे.

कित्ते-कित्ते बरसों बाद आज सुमेर अचानक उससे मिलने चला आया था. जब नौकर ने सुमेर के नाम की चिट उसे पकड़ायी तो वह पागलों की तरह बाहर की तरफ दौड़ी थी.

दरवाजा खोलते ही एक मूर्ति उसके पैरों की तरफ बढ़ी और उसे लगा था बस जिंदगी काश यहीं ठहर जाती.

"दीदी," सुमेर ने उसे निहारता बोला, एक इंटरव्यू

CC-0. In Public Domain. Gurukul K

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आया था, लौट रहा था, ट्रेन में बैठ भी गया था, दीदी पर मैं अपने को रोक नहीं सका, और अटैची लेकर ट्रेन से उतर आया. देखो यह टिकट."

सुमेर टिकट दिखाता बोला और उसकी दोनों आंखों से पानी धार बांधकर बह चला. यह आवाज सुनने वह कित्ते बरसों से तरस गयी थी. उसे लगा सुमेर बोलता रहे और वह बस सुनती रहे, सुनती रहे. कित्ते-कित्ते संबोधनों से उसे बुलाया जाता था, पुकारा जाता था, पर इस संबोधन को सुनने के लिए ही जैसे वह अब तक जिंदा थी.

बाबू जी कैसे हैं. . . . . . और मां?" उसने डरते डरते आखिर साहस करके पूछ ही लिया.

"बाबूजी अब नहीं रहे. तुम्हारे जाने के बाद बाबूजी थक से गये थे. वह अधिक चुप हो गये थे. हर आहट पर चौंकते थे, उनका चौंकना सिर्फ मैं समझता था. और मां ठीक है."

"क्या?" सुमेर के लिए फ्रिज से ठंडा पानी निकालते उसके हाथ बर्फ हो गये. उसकी आंखों में बाबूजी का चेहरा घूम गया. वह सकते में रह गयी. बाबूजी नहीं रहे किसी ने सूचना देने की आवश्यकता भी नहीं समझी? सुमेर घर में चक्कर काटकर उसके पद की गरिमा को तौलता रहा. सुमेर पूरे दो घंटे उसके पास रहा और अपने बारे में बताता रहा पर सुमेर ने एक बार भी उससे उसके अपने वर्तमान के बारे में नहीं पूछा.

जाती बार, जब वह जाने के लिए उठा और उसके पैर की तरफ झुका तो वह प्रश्न आखिर पूछ ही लिया जिसे पूछने के लिए वह दो घंटे से अपने को तैयार कर रही थी, "सुमेर, मुझे लोग याद करते हैं."

सुमेर ने सर उठाकर, चौंककर जैसे उसे देखा था फिर उसने सर झुका लिया.

"तुम्हें झूठ कहकर भ्रम में नहीं रखूंगा," सुमेर बोला, "तुम्हें कोई याद नहीं करता. सच दीदी सब अपनी दुनिया में खुश हैं. तुम्हारी कमी किसी को नहीं खलती, सब जैसे तुम्हारी चर्चा करने से भी कतराते हैं. अब कोई यह जानना या सुनाना भी नहीं चाहता कि तुम खुश हो या दुःखी सब जैसे अपनी जिम्मेदारी से बरी हो गये हैं."

"हां दीदी," सुमेर रुककर बोला," तुम्हारी कमी उस घर के लोगों को नहीं खटकती, काम उसी तरह से चल रहे हैं. तुम्हारे बिना किसी का कोई काम नहीं नहीं रुका. दीदी लोगों को पहले भी तुमसे लेना-देना नहीं था और अब भी नहीं है. पता नहीं तुम कैसा भाग्य लेकर आयी थी, तुम्हें सबने बोझ समझा और तुम्हारी हर जिम्मेदारी से कतराते रहे और आज तो सबके पास उचित बहाना है कि तुमने सबकी इच्छा के विरुद्ध यह कार्य किया? मैं यह बात जानता हूं कि जब सबकी मरजी से था तब किसने तुम्हारी खबर ली? अब तो तुम्हें कोई देखने वाला नहीं, तुम्हारे लिए रोने वाला नहीं, फिर क्यों तुम आस लगाये हो कि कोई तुम्हारी खबर लेगा. मरने वाले के नसीब में तो साल में कम से कम एक बार दान-पुण्य भी लिखा होता है पर तुम्हारे नसीब में तो वह भी नहीं न, कहते सुमेर बच्चों की तरह रो पड़ा.

वह अवाक् बेजान मूर्ति-सी खड़ी रही.

"तुम्हें सबने नोच-नोचकर खाया, पर किसी ने तुम्हारे आगे एक टुकड़ा नहीं डाला. दीदी जानता हूं इंसान इसी अकेलेपन से घबराकर तो सारी यातनाएं झेलता है, जिंदगी से जुड़ा रहता है, उफ ! नहीं करता, और करता है तो उसे यही दंड घर, परिवार, समाज, बिरादरी देना है जो तुम्हें दे रहा है. ?" सुमेर उसे डबडबायी आंख से निहारता बोला, "दीदी तुम क्यों अपने को अभी भी पिछले से जोड़े दुःख पाती हो? भूल जाओ सब, बस समझो मरने वाले के साथ कोई नहीं मरता, थोड़े दिन हलचल रहती है, लोग आंसू बहाकर अपने रास्ते चले जाते हैं.

सुमेर के शब्द उसने मन पर हथौड़े से पड़ रहे थे. वह अवाक् स्तब्ध-सी उसे टुक-टुक उसे देखती रह गयी थी. सुमेर ने जैसे उसके आगे शीशा रख दिया था, जिसमें वह स्पष्ट सब देख-सुन रही थी.

इत्ते वर्ष से जो शेष उसके मन में पल रहा था. . . . दप्पा-सा बुझ गया जैसे किसी ने खट से कुछ काट दिया था.

"अच्छा अब चलूंगा दीदी, सच बोलने के लिए, हो सके तो क्षमा कर देना." सुमेर आंख पोंछता आगे-आगे बढ़ता गया.

वह अपनी घबराहट पर काबू भी नहीं पा सकी थी कि सुमेर एकदम चला गया. वह उसके पीछे-पीछे बरामदे तक आयी और लौट पड़ी, जैसे झन्न से कांच-कांच होकर बिखर गयी हो.

आदमी कितना विचित्र होता है, भ्रम को पाले, झूठ को सहेजे ही रहना चाहता है, बस झूठ ही सुनना और देखना चाहता है. अपने आपको छलना ही चाहता है. वह तो सुमेर से सुनना चाहती थी—दीदी तुम्हें सब याद करते हैं. मां का रोते-रोते अंत हो गया. राहुल तुम्हें याद करते हैं. जब भी तुम्हारी चर्चा चलती है, वह यहीं कहते हैं सपना की तरह भला घर कौन सहेज सकेगा ? सपना गयी, जिंदगी का सारा रंग ही उतर गया, बस अब तो जीवन के दिन काट रहे हैं.

वह तो सुमेर से यह सारी बातें सुनने की आशा किये थी पर इससे ठीक उलटी बातें सुनकर उसे लगा, जिंदगी का मुकदमा ही वह हार गयी है. बीते हुए, सहेजे हुए अतीत की वह पैरवी कर अपने को वह सुखी बना लेती थी, पर सब झूठ. . . झूठ के सिवाय कुछ नहीं.

कितना कष्टकारक है यह सब सोचना, कितना भयानक है इस विडंबना को जीना, उसने हमेशा अपने अतीत को मेहरबान समझा, दयालु समझा. पर आज उसकी समझ में सब बातें आ रही हैं, उसकी किसी को अयवश्यकता ही नहीं थी, न पहले न अब है.

अचानक सामने सड़क के पार रेल की पटरियों पर एक ट्रेन खट-खट करती निकल गयी उसने सिर उठाकर देखा, पैसेंजर ट्रेन थी पर उसके सारे डिब्बे खाली से लगे, उसमें इक्का-दुक्का पेसेंजर ही बैठे थे. खाली ट्रेन की खाली-खाली सी ध्वनि उसे खलने लगी. ट्रेन जब तक उसकी आंख के सामने से ओझल नहीं हो गयी, तब तक वह ट्रेन को ही देखती रही. भरी-भरी ट्रेन का तेज फर्राटे से दौड़ना कितना भला लगता है न ?

बचपन से ही उसे सलीका, कायदा और करीने से रहना पसंद है. बेहूदापन उसे जरा पसंद नहीं था. जोर से हंसना, भोंडे तरीके से उठना-बैठना उसे कतई पसंद नहीं था. वह किसी बेकायदा वाले व्यक्ति को देखती तो चिढ़ जाती. घर में भी वह जब-तब मां को टोकती रहती कभी मां विपरीत उसका ब्लाउज भी पहन लेती तो वह उन्हें टोक देती, "मां, क्या पहन लिया !" दादी की पान खाकर इधर-उधर थूकने-खंखारने की गंदी आदत से सदा उसकी नाक चढ़ी रहती. खाने के समय भी कोई जोर से मुंह चपड़-चपड़ चलाता तो वह खाने पर से उठ जाती. उसकी बचपन से इन बातों को देखकर दादी उससे चिढ़ी-सी रहती और चिल्लाती—"बड़ी सलीके वाली लड़की निकलेगी, पता नहीं कोई राजकुमार ही आये इसे ब्याहने !" वह दादी की बात पर हंस देती और रस्सी कूदते कहती, "दादी, राजकुमार तो आयेगा ही, अगर वह भी सलीकेवाला नहीं हुआ तो मुंह की खायेगा, मेरे नाम पर रोयेगा !"

कालेज जाते समय सड़कपर छेड़ने वाले शोहदे लड़कों से उसे बेहद चिढ़ थी. साथी लड़कियां मुंह इधर-उधर करके हंस देती पर उसका तना हुआ मुंह जरा ढीला नहीं पड़ता था. क्लास में छेड़ना, पैर चलते-चलते दबाना, चमेटी खींचने वाले, पेंसिल पीठ पर चुभाने वाले लड़कों को वह कभी मुड़कर भी नहीं देखती थी. उसकी साथ की लड़कियां कहतीं, "प्यार इसी छेड़छाड़ की उपज है.", तो वह चिढ़कर कहती, "अगर प्यार ऐसे बेहूदा ढंग से शुरू होता है, तो वह बिना प्यार के भली." हमेशा उसके मन में पति और प्रेमी के लिए बहुत ही ऊंची कल्पना रही. जिस तरह आदमी अपने ईश्वर की कल्पना करता है, बस उसी तरह उसमें कोई बुरी आदत, बुरी बात तो हो ही नहीं सकती. यह बस पवित्र ही होगा और पवित्र ही रहना चाहिए उसे, सिर्फ उसके लिए रहना चाहिए या सही शब्दों में वह सिर्फ उसी के लिए, उसी जैसा सलीकेदार, हुनरदार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए.

अनछुई चीजें ही उसे पसंद थीं. अनछुआ सपना, अनछुआ जीवन. उसे याद है कि वह हमेशा अपनी दोस्तों से कहती, उसे ऐसी चीजें देना, जिसे किसी ने नहीं देखा हो, किसी ने नहीं पहना हो. साड़ी, प्रिंट या फैशन जिसकी सब नकल कर कर रहे होते, उसे कभी पसंद नहीं आते.

हमेशा वह लीक से हटकर चली पर उसे क्या पता था, उसकी अपनी ही जिद उसे भस्मासुर की तरह राख कर जायेगी. उसकी इस आदत से सब दोस्त उसे चिढ़ाया करतीं, "अपने सपने के राजकुमार को तो तू जादू की छड़ी से मक्खी बनाकर जूड़े में रखना, जैसा रूप-नगर की जादूगरनी करती थी." वह बस हंसकर रह जाया करती थी.

● मेहरुन्निसा परवेज

आज वह स्नेह के एक नन्हें बिंदु के लिए संघर्ष कर रही थी. अपने आस-पास एक मजबूत किले का निर्माण करना चाहती थी ताकि वह सुरक्षित रह सके, क्योंकि वह जानती है, बेनाम व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता. जीता हुआ व्यक्ति भी अपने निर्माण किये किले में अकेला नहीं रह सकता है.

राहुल मिलट्री में मेजर थे. वह खुश थी कि उसकी एक मिलट्री अफसर से शादी हुई है. पर राहुल को उस जैसी छुई-मुई लड़की नहीं चाहिए थी.

जब पहली बार वह राहुल के पास रहने गयी तो पहले ही दिन राहुल ने जिस औरत से उसका परिचय कराया, उसे बताया गया था कि वह उसकी दोस्त है, पर हर बात में उसका डार्लिंग-डार्लिंग कहकर संबोधन करना उसे बुरा लगा था.

रात जब वह अपने कमरे में इंतजार करते-करते थक गयी तो वह राहुल को देखने ड्राइंग रूम में आयी. वहां दोनों नशे में बेसुध से थे.

"सपना ?" उसे देखते ही राहुल जोर से हंसा, "नीलू, मेरी पत्नी सपना से मिलो. पता है पत्नी का काम क्या है ? पति के साथ सोना. तो पत्नी जी, आप बैडरूम में रहिये हम आते हैं."

अपमानित वह लौट पड़ी थी. पर वह रात और उसके बाद की कई रात भी उसे अकेले ही काटना पड़ा. राहुल कभी नहीं लौटा. जब वह उसके पास शरीर के साथ रहा भी तो मन से वह कहीं और रहा.

राहुल ने मां-बाप की जिद से और छोटी बहन के ब्याह के लिए उसने अपना ब्याह किया था, वरना उसे ब्याह की आवश्यकता ही नहीं थी. उसके दहेज और रुपयों से छोटी बहन ब्याह दी गयी, बस फर्ज समाप्त हो गया था.

सारे अधिकार, प्यार, ममत्व सब कुछ नीलू के हिस्से में आया और उसके हिस्से में आया, भव्य शानदार, सजा-सजाया सरकारी बंगला, कीमती फर्नीचर, कायदे और करीने वाले वर्दी पहने नौकर और सारे घर को अपनी दहाड़ से हिला देनेवाला एक अदद आलीशान कुत्ता.

जब उसने राहुल से नीलू को लेकर बात की थी तो राहुल का साफ उत्तर था, "सपना, तुमसे पहले नीलू मेरी जिंदगी में आयी है, त्याग तो उसका है. मैं अगर पुरानी विचारों वाले माता-पिता के सामने उससे ब्याह नहीं कर सकता तो प्यार तो कर ही सकता हूं न."

"पर मैं ऐसा नाटक पूरी जिंदगी नहीं जी सकती, हमें अलग होना होगा ?"

"बेशक, तुम जब चाहो अलग हो जाओ, मेरे कई मित्र वकील हैं, जो तुम्हें आसानी से तलाक दिला देंगे." राहुल ने सपाट शब्दों में चाय पीते हुए कहा.

"फिर तुम अपना हक जरा भी नहीं जताओगे ?" उसने आश्चर्य में भर कर पूछा था ?

"एकदम नहीं," राहुल बोला, "तुम्हें पता होना चाहिए, फारगेट का सबक हमें सिखाया जाता है, वरना जीना ही मुश्किल हो जाये. हम रोजाना देखते हैं, हमारी टुकड़ी के साथी, अजीज दोस्त लड़ाई में मारे जाते हैं, अगर हम उनके लिए मातम करने बैठे रहे तो शायद जिंदा ही नहीं रह पायेंगे न."

"अच्छा!" कुछ खट से मन में कुछ टूटा.

और एक शाम जब राहुल ने उसे जो पेपर दिये उसे पढ़कर वह स्तब्ध रह गयी. वह बकायदा एक तलाकनामा था. राहुल पहले की तरह ही उस शाम उसके साथ बैठकर चाय पीते रहे.

रिश्ते इतने सड़-गल गये थे कि उनमें कहीं खून, मवाद, दर्द नहीं था. टूटने का, अलग होने का जरा भी एहसास नहीं था वह ही बेकार में इतने दिन भ्रम को पाले थी. सब कुछ सहेजना, समेटना चाहती थी.

वह पेपर पकड़े हैरान सन्न-सी बैठी रह गयी थी सोफे पर. मन आंखों से निकल पड़ना चाह रहा था. पर वह अपने को संभाले बैठी रही.

वह दिन और दिनों की तरह ही सामान्य बीता. हर दिन की तरह ही उसने घर का सारा काम निपटाया, लोगों से मिलती रही पर भीतर ही भीतर वह बेहद भयभीत थी. क्या वास्तव में यही शादी थी और यही तलाक ? चारों तरफ पानी ही पानी दिख रहा था, कहीं खड़े होने के लिए उसे सूखी धरती नजर नहीं आ रही थी.

वह दिन, दूसरा दिन, तीसरा, चौथा इसी तरह निकलते चले गये... और फिर एक दिन अचानक राहुल उसके सामने आ खड़े हुए, "तुमने अपने जाने का इंतजाम नहीं किया ?"

"राहुल, निर्णय लेने में समय निकल गया पर आज जरूर जाऊंगी."

"कहां जाना है, पहले सोच लो." राहुल को भय था कहीं वह कहीं वह आत्महत्या न कर ले.

"कहीं भी जाऊं, अब तुमसे मतलब ? मैं मां के पास जाऊंगी."

"मुझे पता है तुम मां के घर नहीं जाओगी, इसलिए कहता हूं ठंडे दिमाग से जाना." राहुल ने कहा.

राहुल का यह विश्वास उसे बुरी तरह खल गया, वह एड़ी से चोटी तक सुलग उठी और वह बिना रोये-पीटे, एकदम तटस्थ भाव से अपने जाने का प्लान बनाती रही, अपने को समेटती-सहेजती रही और एक दिन एकदम चुपचाप उसने राहुल का दरवाजा छोड़ दिया.

एक लंबा पत्र बाबूजी के नाम लिख वह दिल्ली की भीड़ भरे सैलाब में खो गयी थी. वह जानती थी जहां शादी के नाम पर लड़कियों की बलि चढ़ायी जाती हो, उस घर में उसकी बात सुनने वाला कोई नहीं था.

वह उस संस्कृति के वातावरण में पली थी जहां पुरुष का हर रूप आदेश माना गया.

वह अखबार के छोटे से दफ्तर में अपनी एक दोस्त के सहारे काम तलाशने में सफल हो गयी थी. उसे खड़े होने के लिए बस थोड़ी-सी जगह ही तो चाहिए थी. जहां लड़ाई में वह सब कुछ हार गयी थी, वहां यह एहसास क्या कम था, कि वह एक बेजान, निर्जीव वस्तु नहीं है, उसके भी जजबात हैं, उसकी भी भावनाएं हैं.

इत्ते वर्षों के बाद अकेले जिंदगी की लड़ाई लड़ते जब उसने अपने आप को कुतुबमीनार की तरह खड़ा कर लिया था तब आज इतने वर्षों के बाद सुमेर ने जरा ही एक ईंट खींच दी तो उसे लगा उसका किला, उसका कुतुबबमीनार ठह गया है और वह बस एक ध्वस्त किले की मालकिन भर है. □

● कलेक्टर निवास, सिविल लाइन, जबलपुर (म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul ...

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहचान

नरेंद्र कोहली

"होश आया?" मैंने पूछा.

"होश तो कल ही आ गया था."

पर यह समाचार देते हुए उसके स्वर में उल्लास नहीं, असाधारण अवसाद था.

क्षण भर के लिए मुझे कुछ नहीं सूझा. . .होश आ गया है और फिर भी वह उदास है तो चिंता की बात कोई और होनी चाहिए.

"जनरल कंडीशन?"

"डाक्टर कहते हैं, ठीक है!"

ये शब्द ही थे. उसके स्वर में कहीं कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं था, जिससे मैं मान सकता कि वे ठीक हैं.

"ब्लड प्रेशर? हार्ट कंडीशन??"

"नारमल ही बता रहे हैं."

"रिफ्लैक्सेस?"

"ठीक हैं."

और क्या हो सकता है? कुछ और नहीं सूझा तो मैंने पूछ ही लिया, "तो फिर तुम इतने उदास क्यों हो?"

उसकी आंखों की आहत पीड़ा, मुझे भी विचलित कर गयी थी, "वे मुझे पहचान नहीं रहे हैं."

मैं सन्न रह गया—क्या है यह. . . स्मरण शक्ति का नष्ट होना या कोई मानसिक विकृति?

"कारण?" मैंने पूछा.

"पता नहीं!"

"किसी और को पहचान रहे हैं?"

"डाक्टरों-नर्सों को पहचानें, न पहचानें. . . क्या फर्क पड़ता है."

मैं अकबकाया-सा उसे देखता रहा. क्या कहता.

सहसा उसके हाथ बहुत सक्रिय हो उठे. वह अपना माथा सहला रहा था. उसकी अंगुलियां जैसे उसके बाल नोचने के लिए मचल रही थीं और उसका विवेक उन्हें रोक रहा था. उसकी हथेलियां उसके गालों और ठुड्डी को रगड़ रही थीं. . . शायद वह अपने आपको रोने से रोक रहा था. उसकी आंखें तो डबडबा ही आयी थीं. निश्चित रूप से वह परेशान भी था और दुखी भी! उसके पापा उसे पहचान नहीं रहे थे—उसे, जो उनकी एकमात्र संतान ही नहीं, इस भीड़ भरी दुनिया में उनका एकमात्र आत्मीय था. . . जो अपने खर्च पर उन्हें इस महंगे अस्पताल में लाया था. . . जिसे सारा देश पहचानता था और कल सारा विश्व पहचानेगा. . . उसे पापा ही नहीं पहचान रहे थे.

होली फैमिली अस्पताल की दूसरी मंजिल के केबिनों के साथ वाली लॉबी में हम दोनों बैठे थे. पीछे की खिड़की खुली हुई थी और पानी से लदी ठंडी हवा आ रही थी. वैसे तो दिल्ली अक्तूबर और फरवरी में ही सुंदर होती है, किंतु जुलाई का यह आखिरी सप्ताह भी कभी-कभी बहुत सुहावना हो उठता है. वर्षा हो भी रही थी और नहीं भी हो रही थी. ऐसी धीमी फुहार वाली वर्षा कि आदमी शीतल तो हो जाये, पर गीला न हो. सृष्टि गीली तो हो, पर कीचड़ सनी न हो. चारों ओर भीगी हुई ताजा दम हरियाली हो और आकाश बादलों से ढका हो. . . और पानी भरे हवा ऐसे इठलाती चले, जैसे कोई पनिहारिन हो, तो दिल्ली सुंदर क्यों न लगे. . .

मन हवा में बहुत देर तक बंध नहीं पाया. . सामने सीढ़ियां थीं और सीढ़ियों के साथ ही लिफ्ट थी. शेष सब कमरे ही कमरे थे—कमरों की कतारें. साफ-सुथरा लंबा बरामदा. . .या गलियारा. गलियारा ही लगता है मुझे तो. . . इतना साफ-सुथरा अस्पताल दिल्ली में दूसरा नहीं है. इसी में बायीं ओर प्रतीक्षालय के साथ लगे केबिन में अनिल के पापा लेटे हैं. उन्हें किसी किस्म का कोई दौरा पड़ा था और वे बेहोश हो गये. बेहोशी की स्थिति में ही उन्हें अस्पताल लाया गया था. तब अनिल बता रहा था कि वे होश में आ गये थे; पर उसे पहचान नहीं पा रहे थे. . .

सामने की लिफ्ट का दरवाजा खुला और स्टेथास्कोप झुलाता हुआ एक डाक्टर निकला.

"ओह! डॉ. भाटिया!"

अनिल ने कहा और उठकर खड़ा हो गया.

"शायद पापा को देखने आये हैं."

उसकी आंखें जैसे जाने के लिए मुझ से अनुमति मांग रही थीं.

"जाओ! डाक्टर से बात कर लो." मैंने कहा.

यद्यपि अपने पापा के पास रहना और डॉक्टर के आने पर जानकारी के लिए पास ही उपलब्ध होना, उसके लिए सबसे आवश्यक कार्य था, और फिर मैंने स्वयं भी उसे जाने के लिए कह दिया था. . .पर वह इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

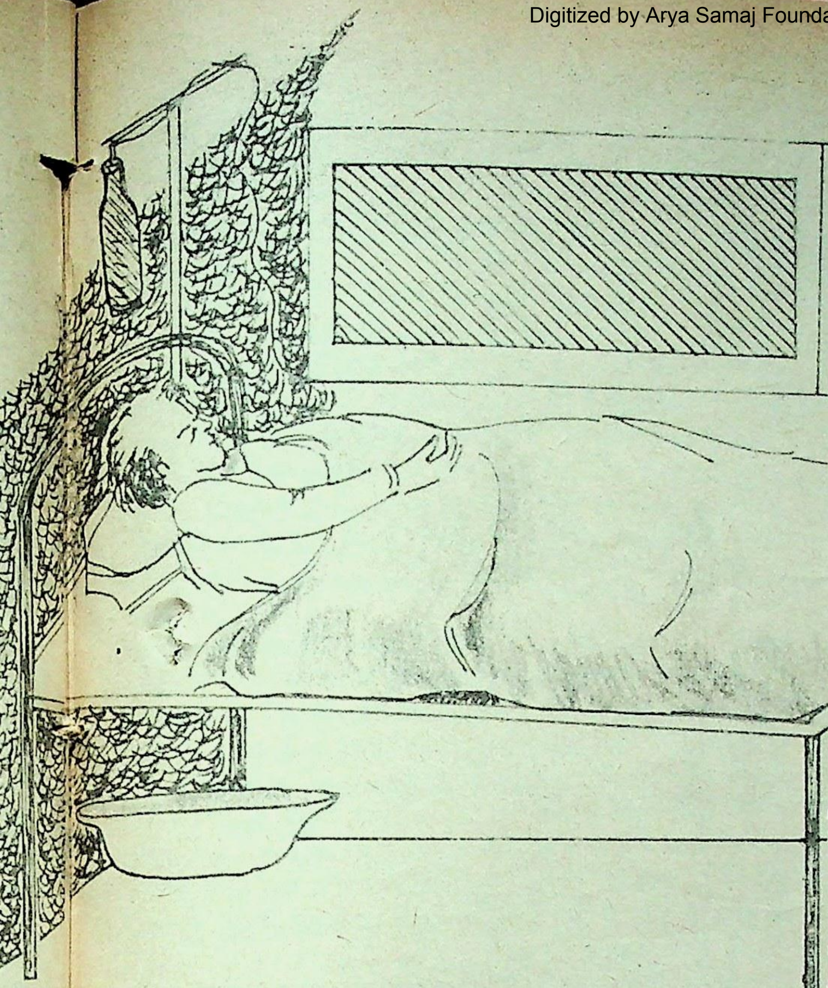

क्या किसी व्यक्ति का नाम और परिचय जानना भर ही उसे पहचान लेना है? क्या सही रूप में किसी को पहचान लेने के लिए जरूरी नहीं है कि उसके अंतर को भी पहचाना जाये? इसी अंतर और बाहर की पहचान के संकट से जूझ रहे एक कलाकार के मन को परख रहे हैं श्री नरेंद्र कोहली जिन्होंने अपने मिथकीय रचना संसार से निकल कर एक अरसे बाद, विशेष रूप से सारिका के पाठकों के लिए यह यथार्थपरक कहानी लिखी है.

तरह की मुद्रा लिये हुए वहां से हटा, जैसे कोई भयंकर अपराध कर रहा हो, उसकी आंखें, उसके होंठ, उसके चेहरे की रेखाएं. . .बहुत अटपटा न लगता रहा हो, तो उसके हाथ भी शायद मेरे सामने जुड़ ही जाते.

बहुत संवेदनशील है अनिल! हर भाव को बहुत गहराई से अनुभव करने वाला. . . प्रत्येक पदार्थ को जैसे आर-पार देखने वाला. तभी तो उसके चित्रों में इतनी गहराई होती है. मुझे तो उसकी पेंटिंग्स के पर्वत भी बोलते हुए दिखायी पड़ते हैं. जैसे उसकी आंख बाहर की त्वचा तक तो रुकना ही नहीं जानती—आत्मा के भी आर-पार देखती है. . .

उन दिनों हम चौथी कक्षा में पढ़ते थे. हम दोनों ही सबसे आगे के डेस्क पर बैठते थे और ढेर सारी बातें किया करते थे. पर बातें करते-करते भी उसके हाथ का पेन लगातार चलता रहता था. कभी-कभी उसके सामने ड्राइंग कॉपी होती थी, कभी ड्राइंग कॉपी न हो तो साधारण कॉपी पर ही वह लकीरें खींचता रहता था. दो-चार बार तो उसे मैंने डेस्क की लकड़ी पर भी पेन चलाते देखा था. . . उसका पेन चलता रहता था. और उसमें से तरह-तरह के दृश्य उभरते रहते थे. कभी कोई पहाड़ होता, जिसके नीचे नदी बह रही होती, और आकाश पर मेघों से घिरा सूर्य या चंद्रमा होता. कभी कोई रेगिस्तान, खजूर के दो-चार पेड़, पानी का चश्मा और ऊंट पर बैठे यात्री, कभी सागर तट, लहरें, नारियल के पेड़ और लोग. . .

मैं अपनी बात कहता रहता, उसकी सुनता रहता या मुग्ध भाव से उसके पेन से झरते हुए उन दृश्यों को देखता रहता. . .मेरे लिए वह चित्रकार नहीं जादूगर था, जिसके पेन से पल-पल में जादू नगरी बनती और बिगड़ती रहती थी. मैं स्वयं बड़े समारोह से कभी कोई चित्र बनाने बैठता तो दस बार मिटाने पर भी कोई रेखा सीधी नहीं खिंचती थी. उसकी देखा-देखी कई बार उसके बनाये हुए दृश्य ही मैंने भी बनाये, किंतु मेरा बनाया पहाड़ न कभी पहाड़ बना और और न नारियल गाछ, नारियल गाछ!. . . और वह था कि सीधे पेन की रेखाओं से वे ही वस्तुएं जीवंत रूप में उभारता चलता था, न पेंसिल, न रबर, . . चित्र बनकर तैयार हो जाता था. कोई अध्यापक कक्षा में आ जाते तो वह चुपचाप उस पृष्ठ को मोड़-फाड़कर इधर-उधर कर देता. चित्रों का इस प्रकार नष्ट होना, मुझे बुरा लगता. एक दिन मैंने उससे कह दिया कि जो चित्र उसे नहीं चाहिए, मुझे दे दिया करे. . .

मैं सुबह स्कूल पहुंचा तो वह पहले से बैठा, एक बड़ी-सी ड्राइंग-कॉपी में कोई चित्र बना रहा था.

"क्या बना रहे हो?" मैंने पूछा और अपना बस्ता रखकर बड़ी उत्सुकता से उसके चित्र को देखा, वह रोज की तरह अपने काल्पनिक पहाड़ी, रेगिस्तानी या समुद्री चित्र नहीं बना रहा था. वह तो कुछ और ही था : कोई बड़ा-सा चौराहा. एक ओर एक फौवारा, फूलों का उद्यान और पृष्ठभूमि में दूर तक गयी हुई सड़कें, ऊंचे भवन, मार्ग में बिछी हुई फूलों की क्यारियां . . .

"यह क्या है?" मैंने पूछा.

"विजय चौक." उसने बताया, "कल मैं गया था. बड़ा सुंदर है. इंडिया गेट तक. वही बना रहा हूं."

आज उसकी रुचि बातों में नहीं थी. वह पूरी तन्मयता के साथ चित्र में लगा रहा.

घंटी बजी तो उसने रोज के समान कागज को नोचकर मोड़ा-मचोड़ा नहीं. बड़ी सावधानी के साथ कागज पर प्यार का हाथ फेर, कॉपी को बंद कर रख दिया.

अगले चार पीरियड बीत गये और वह बार-बार कॉपी खोलकर अपने उस अधूरे चित्र को निहार ही सका. अध्यापकों के आने और जाने के बीच इतना समय नहीं मिला कि वह उस चित्र को पूरा कर सके. आधी छुट्टी की घंटी बजते ही उसने अपनी कॉपी खोल ली और उसका पेन हरकत में आ गया. बातचीत तो वह आज भी कर रहा था, किंतु रोज की तरह नहीं. आज उसका ध्यान मुझसे कहीं अधिक अपने चित्र की ओर था.

और सहसा आधी छुट्टी समाप्त होने और पांचवां पीरियड आरंभ होने की घंटी बजी.

भय से जैसे उसके चेहरे का रंग काला पड़ गया. उसने अनायास एक बार चित्र की ओर देखा और फिर उसकी दृष्टि दरवाजे से होती हुई बाहर, बरामदे चली गयी. पांचवें पीरियड के अध्यापक आ तो नहीं रहे . . . तब उसने मेरी ओर देखा, "मैं जा रहा हूं. मुझे यह चित्र पूरा करना है."

जब तक मैं यह समझ पाऊं कि उसका इरादा क्या है, वह अपनी कॉपियां-किताबें समेट; बस्ते में डालकर, कमरे से बाहर निकल गया. मैं हक्का-बक्का देखता ही रह गया.

CC-0. In Public Domain.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके मन में क्या था, मैं नहीं जानता; पर मैं स्वयं भी चाह रहा था कि वह अपना यह चित्र जल्दी से जल्दी पूरा कर ले और फिर जैसे वह अपने अधिकांश चित्र मोड़-माड़कर फेंक दिया करता था, वैसा न कर, यह चित्र मुझे दे दे. मैं अपने पिताजी से कहूंगा कि इसे शीशे में मढ़वा दें. मैं इसे अपने कमरे में टांगूंगा . . .

पर तभी साधुराम शर्मा आ गये. वे हमें गणित पढ़ाते थे और पांचवां पीरियड उन्हीं का था. उनकी दृष्टि आगे की खाली सीट पर गयी.

"अनिल आज आया नहीं क्या?"

"आया था सर!" कई लड़कों ने एक साथ उत्तर दिया.

"तो कहां गया फिर?"

सब चुप! किसी को क्या पता कि वह कहां गया है. मुझे भी तो इतना ही मालूम था कि वह क्लास से निकल गया है, पर गया कहां है . . .

"तुम लोग बैठो. मैं रजिस्टर ले आऊं . . ."

हमारे स्कूल में हाजरी केवल पहले पीरियड में ही होती थी. पर ऐसी असाधारण परिस्थितियों में रजिस्टर मंगाया जाता था और दोबारा हाजिरी होती थी. किसी का सिरे से स्कूल न आना साधारण बात थी; किंतु स्कूल से इस प्रकार भाग जाना बड़ा अपराध माना जाता था.

इस बार भी वही हुआ. साधुराम शर्मा दफ्तर से रजिस्टर लेकर लौटे. सारी कक्षा की फिर से हाजरी ली गयी. बाकी सारे लड़के उपस्थित थे. बस, एक अनिल ही गायब था. साधुराम शर्मा ने उसके नाम के सामने लाल रोशनाई से लिखा—FLED और कलम को बंद कर जेब में रख ही रहे थे कि स्कूल का चपरासी हरिप्रसाद, अनिल को बांह से पकड़कर लगभग घसीटता हुआ ले आया.

पूछताछ से पता चला कि अनिल स्कूल-कंपाउंड के एक कोने में एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठा हुआ चित्र बना रहा था कि स्कूल में घुस आयी एक गाय को भगाने के चक्कर में माली उधर आ गया. वह अनिल को पकड़कर हेडमास्टर के पास ले गया और हेडमास्टर ने उसे यहां भेज दिया.

उसकी कॉपी पर लिख दिया गया कि वह क्लास से भागकर बाहर बैठा चित्र बना रहा था. उससे कहा गया था कि वह इस सूचना पर अपने पापा से हस्ताक्षर करवा कर लाये.

तीन पीरियड बड़ी कठिनाई से कटे थे. छुट्टी हुई तो मैं अपने आप को रोक नहीं पाया, "अनिल! अपना यह चित्र मुझे दोगे?"

"अभी तो वह पूरा भी नहीं हुआ." उसने अपनी सीट से उठते हुए कहा.

मीडियाकर

□ देवीशंकर अवस्थी

अभी पूरी तौर से वैसी प्रखर बौद्धिकता हमारे लेखकों में नहीं है, जो एक समग्र 'विश्व-दृष्टि' के परिप्रेक्ष्य में, अतीत और भविष्य के संदर्भ में वस्तुओं और स्थितियों को साफ-साफ देख सके. पर इसका दोष लेखकों पर नहीं लादा जा सकता. हमारे बुद्धिजीवी वर्ग का औसत बौद्धिक स्तर ही मीडियाकर है. और जब तक अंगरेजी माध्यम के रूप में विद्यमान है, तब तक इसमें बहुत सुधार नहीं हो सकता. वस्तुतः जिन्हें बौद्धिक कहानी कहा जाता है, वे बहुत गहरे अर्थ में भावप्रवण या अनुभूत विचार की कहानियां होती हैं. इसका एक प्रमाण यह भी है कि पहले के लेखक जहां समस्या-प्रधान कहानियां लिखा करते थे, वहां अब लेखकों ने समस्या प्रधान कहानियां छोड़ दी हैं—उसके स्थान पर अनुभव-धर्मी कहानियों पर जोर दिया गया है.

—प्र. : बीज.

"पूरा हो जायेगा तो दोगे?"

"नहीं!" उसने साफ मना कर दिया, "इसे पूरा कर मैं अपने पापा को दिखाऊंगा. पापा को पसंद आया तो उन्हें दे दूंगा, नहीं तो संभालकर अपने पास रखूंगा."

अगले दिन मैंने बहुत उतावली से पूछा, "चित्र पूरा हो गया?" उसने बुरा-सा मुंह बनाया, "नहीं?"

"क्यों? क्या हुआ?? समय नहीं मिला???"

"नहीं!" वह उदास हो गया, "पापा को स्कूल की घटना बतायी तो उन्होंने मुझे चार-पांच चांटे लगा दिये. अधूरे चित्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये. धमकी दी है कि फिर कभी उनको खबर मिली कि मैं चित्र बनाता हूं तो मार-मारकर मेरी हड्डियां तोड़ देंगे." अनिल को इतना उदास मैंने कभी नहीं देखा था, "पापा मेरी बात समझते क्यों नहीं! मैं पढ़ाई से बचने के लिए स्कूल से भागने वाला नालायक बच्चा नहीं हूं, पढ़ाई बहुत जरूरी है, मैं समझता हूं. पढ़ाई तो मैं कर ही रहा हूं, करूंगा ही . . . पर चित्र बनाना . . ."

डॉ. भाटिया केबिन से बाहर निकल आये थे, पर अनिल साथ नहीं था. मेरा मन हुआ कि मैं डॉ. भाटिया को रोककर पूछूं कि अनिल के पापा का क्या हाल है? हो सकता है कि वह अनिल को ठीक-ठीक न बताना चाह रहे हों. आखिर एक आदमी होश में आकर भी अपने एकमात्र बेटे को पहचान क्यों नहीं रहा?

मैं अपने स्थान से उठा नहीं. डॉ. भाटिया, लिफ्ट की ओर बढ़ते चले गये और मैं बैठा सोचता ही रह गया. मेरे साथ कई बार ऐसा होता है कि मेरा मन लगातार चलता रहता है और मेरा शरीर अपने स्थान से हिलता भी नहीं है . . . डॉ. भाटिया, लिफ्ट में चले गये थे.

मैं अपनी जगह से उठ बैठा.

केबिन के दरवाजे पर मैं मिनट भर को ठिठका. भीतर कोई आवाज नहीं थी. अनिल क्या कर रहा है भीतर? . . . किसी नर्स से रोमांस . . .

मैं दरवाजा खोलकर भीतर चला गया. केबिन में कोई नर्स नहीं थी. अनिल के पापा सो रहे थे. वह अपने पलंग के साथ कुर्सी रखे हुए, उनसे लगभग सट कर बैठा हुआ था. उसने उनकी कलाई पकड़ रखी थी और शायद नाड़ी देखने का प्रयत्न कर रहा था. उसके चेहरे को देखकर कोई भी समझ सकता था कि उसे नाड़ी मिल नहीं रही थी. जिसका हाथ हर समय समाज की नाड़ी पर रहता था, वह अपने पापा के स्थूल शरीर में से नाड़ी नहीं पकड़ पा रहा था.

मैं मिनट भर को उसके पास चला गया. उसने सिर उठाकर मुझे देखा.

"नहीं मिल रही?" मैंने मशीनी ढंग से पूछ डाला.

"नहीं!" और फिर वह पापा की बंद आंखों को देखने लगा.

मेरी दृष्टि कमरे का सर्वेक्षण करने लगी. एक बड़े बेडरूम सा केबिन था, एयरकंडीशंड. पलंग के अतिरिक्त एक कोने में दो कुर्सियां और मेज पड़ी थीं. एक ओर कपड़े टांगने का स्टैंड था. एक साइड-बोर्ड भी था . . .

अनिल के पास इन दिनों पैसों की कमी नहीं थी . . . मैंने सोचा . . . जब हम लोग पढ़ा करते थे तो उसके घर की स्थिति ऐसी नहीं थी. उसके पापा डाकघर के आसिस्टेंट पोस्टमास्टर थे और शायद कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि बीमार होकर वे इस अस्पताल के एयरकंडीशंड केबिन में इलाज करायेंगे . . .

मैट्रिक में अनिल के पचपन प्रतिशत अंक आये थे. इनसे अधिक की उसे शायद आशा भी नहीं थी. हम दोनों एक साथ ही कॉलेज गये थे और आई.ए. के लिए प्रवेश-पत्र भर आये थे. अनिल ने बताया था कि उसके पापा चाहते हैं कि आई.कॉम. में दाखला ले.

"क्यों?" मैंने पूछा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"उनका विचार है कि नौकरी मिलने में सुविधा होगी." उसने बताया, "पर मैं मुनीमी करना नहीं चाहता. मैं तो साहित्य या दर्शन पढ़ना चाहता हूं."

"और नौकरी?"

"नौकरी क्या करनी है." वह हंसा, "अपनी तूलिका जिंदाबाद!"

उनके परिवार में कलह काफी लंबी चली थी. उसके पापा लगातार हठ कर रहे थे कि वह अब भी विषय बदल ले; और वह अपनी जगह डटा बैठा था—उसे आई.-कॉम. करना पड़ा तो वह कॉलेज छोड़ देगा.

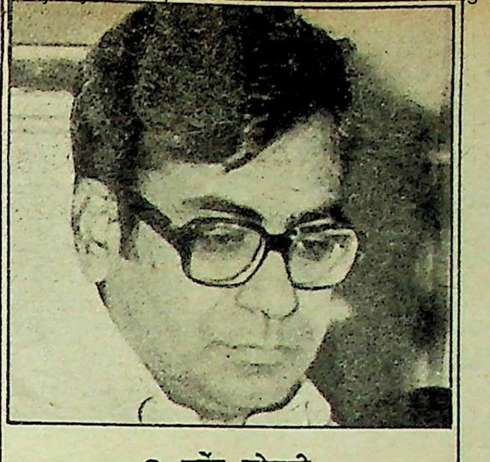

● नरेंद्र कोहली

अगस्त का आखिरी सप्ताह था शायद. स्वतंत्रता दिवस का कार्यक्रम कॉलेज में हो चुका था. अनिल पिछले दो दिनों से कॉलेज नहीं आ रहा था. हो सकता है, बीमार हो गया हो . . .

केबिन का दरवाजा खुला तो नर्सें एक बड़ी ट्रे में बहुत सारा सामान लेकर आयी थीं.

उन्होंने मुस्कराकर हम दोनों को ही देखा, "पेशेंट को स्पंज देना है."

मैं तुरंत बाहर आ गया, जैसे मुझे बाहर निकलने की जल्दी हो. हो सकता है कि एक अचेत-प्राय: रोगी की लंबे समय की निकटता ने मुझे भीतर ही भीतर घबरा रखा हो और मैं निकल भागने का बहाना ही खोज रहा होऊं.

लॉबी में आकर बैठते ही मैंने अपनी इस घबराहट को पहचाना. पर साथ ही मेरे भीतर से एक धिक्कार भी उठा . . . घबराने का क्या अर्थ है. रोग किसको नहीं जकड़ सकता? क्या मैं कभी बीमार नहीं हो सकता? रोगी की सेवा करनी चाहिए, या उससे भागना चाहिए? . . . और फिर आज तो मैं अनिल के साथ रात भर की ड्यूटी देने के लिए तैयार होकर आया था. यदि मैं इस प्रकार से घबराता रहा तो रात भर मैं उस कमरे में कैसे रहूंगा? . . .

अनिल भी बाहर आ गया.

मैं जरा घंटे भर के लिए बाहर जा रहा हूं." उसने कहा, "लौटते हुए खाना लेता आऊंगा. दोनों इकट्ठे ही खा लेंगे."

"अच्छा."

"नर्सें स्पंज करा लें तो तुम पापा के पास अंदर ही बैठना." उसने कहा, "घबराने की कोई बात नहीं है. पर कोई जरूरत लगे तो घंटी बजा देना, नर्स आ जायेगी."

मैंने चुपचाप सिर हिला दिया और वह सीढ़ियों से नीचे उतर गया. अनिल लिफ्ट का उपयोग कम से कम करता है. दो-एक मंजिल तक चढ़ना हो तो वह सीढ़ियों से ही चढ़ता है. उतरते समय तो वह कभी लिफ्ट का प्रयोग करता ही नहीं, चाहे दस मंजिलें ही क्यों न उतरनी हों . . .

वह आंखों से ओझल हुआ तो मुझ पर एक तंद्रा-सी छा गयी. पर अतीत सोया नहीं. पुरानी-फटी रील के समान मन में घूम गया . . .

मैं अनिल के घर गया था, पता करने. पर पता चला कि वे लोग तो स्वयं ही उसका पता ढूंढ़ रहे हैं. उसकी मां ने बताया कि उसने कॉलेज में हमारे साथ नाम तो लिखा लिया था, पर वह उससे संतुष्ट नहीं था. वह जाकर कला महाविद्यालय के फार्म इत्यादि ले आया था. उसके पापा के लिए यह अकल्पनीय था. वे उसे 'कला महाविद्यालय' में प्रवेश की अनुमति कैसे दे देते. उनका विचार था कि बी.ए. के बाद वह क्लर्क तो बन ही सकता है, पर चित्रकला का डिप्लोमा लेकर वह क्या करेगा? सड़क के किनारे किसी फुटपाथ पर बैठकर लोगों की दुकानों के बोर्ड पेंट किया करेगा. चित्रकार की इससे अच्छी स्थिति की कल्पना भी उनके मन में नहीं थी.

पिता और पुत्र में बहुत झगड़ा हुआ. अनिल दो दिनों से घर से गायब था. पता नहीं कहां था.

मैं उनसे अनिल का पता पूछना चाह रहा था और वे अपने प्रश्नों से खोद-खोदकर मुझसे यह जानना चाह रहे थे कि वह कहां चला गया था.

मुझे काफी बुरा लगा था. मैं तो समझता था कि वह मुझसे कुछ भी छिपाकर रख ही नहीं सकता; और वह था कि उसने मुझे हवा भी नहीं लगने दी कि उसके भीतर क्या-कुछ घट रहा है . . .

बाद में जब उससे भेंट हुई तो उसने बताया था कि उसके बनाये चित्र देखकर 'कला महाविद्यालय' के एक अध्यापक ने उसकी बहुत सहायता की थी. उसकी फीस माफ कर दी गयी थी और उसे होस्टल में स्थान मिल गया था. उसके पापा जब उसे सारे नगर में खोजते फिर रहे थे तो उन्होंने सोचा भी नहीं था कि वह बिना पैसों के होस्टल में कमरा लेकर रह रहा होगा.

तीन-चार दिनों के बाद वह स्वयं ही घर आया था. उसने पापा से साफ-साफ कह दिया था कि यदि वे उसे अपनी इच्छा की पढ़ाई नहीं करने देंगे तो वह पूरी तरह से घर छोड़ देगा और फिर कभी घर नहीं लौटेगा.

उनके परिवार में जाने भीतर ही भीतर क्या घटित हुआ; पर ऊपरी तौर पर समझौता हो गया लगता था. अनिल होस्टल में ही रहता था, पर घर आया-जाया करता था. जब कभी मिलता, हंसकर कहता, "पापा आज तक इस कपूत को क्षमा नहीं कर पाये हैं."

केबिन का दरवाजा खुला और नर्सें बाहर निकल आयीं, "आप जा सकते हैं."

बिना कुछ कहे मैं अंदर चला गया.

अनिल के पापा होश में थे और जगे हुए थे. उन्होंने एक बार आंखें खोलीं और जैसे सामने कुछ न पाकर फिर से आंखें बंद कर लीं.

जाने क्या हुआ कि इस बार मैं फिर से अतीत में लौट नहीं सका . . . अनिल यहां नहीं था. पापा के पास मैं अकेला था. उनकी देख-भाल करना मेरा काम था. पलंग के सिरहाने एक कुर्सी रखकर मैं बैठ गया. कुर्सी की आहट से, उन्होंने फिर से आंखें खोलीं. पर मुझे सामने पाकर भी उनकी आंखों के शून्य में कोई अंतर नहीं आया.

अपने प्रति उनके मन में कोई उत्सुकता न देखकर मेरे मन में उनके प्रति उत्सुकता जाग उठी. मेरी घबराहट कहीं खो गयी और मैंने बड़े सहज ढंग से उनके माथे पर अपना हाथ रख दिया. उनकी आंखें फिर से खुल गयीं.

"अंकल! मुझे पहचानते हैं?"

उनमें कोई प्रतिक्रिया नहीं जागी. जैसे उन्होंने मेरी आवाज ही न सुनी हो. न उन्होंने मुस्कराकर स्वीकृति दी और न परेशान होकर इंकार किया. उनकी आंखों में बिंब का प्रतिबिंब था, न कंठ में ध्वनि की प्रतिध्वनि!

उन्होंने फिर से आंखें बंद कर लीं.

मुझे अनिल के समान धक्का नहीं लगा. मैं तनिक भी परेशान नहीं हुआ कि उन्होंने मुझे पहचाना नहीं. मैं बहुत तटस्थ भाव से वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाल रहा था कि देखने के लिए आंखें मात्र एक यंत्र हैं, मूल इंद्रिय तो मनुष्य के मस्तिष्क का कोई अन्य भाग है . . .

सहसा वे इस सरलता से सो गये, जिस सरलता से हम आंखें मूंदते हैं . . .

वर्तमान में अब कुछ नहीं था. एक तरह की उबाऊ स्थिति थी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुर्सी पर बैठे-बैठे तन जैसे सो गया और मन फिर अतीत की ओर फिसल गया . . .

अनिल ने मुझे बताया था कि उसके पापा धीरे-धीरे उसकी चित्र-कला की शिक्षा से समझौता कर रहे थे. उन्होंने उसके विषय में कुछ-कुछ रुचि लेनी भी आरंभ कर दी थी. वे जानते थे कि चित्रकला प्रशिक्षण में भी दो भाग होते हैं—व्यावसायिक कला और ललित कला. वह प्रसन्न था कि पापा उसकी प्रगति के विषय में पूछते थे. उसके भविष्य के विषय में जानना चाहते थे. उसकी संभावित नौकरी के विषय में सोचते थे. उसकी स्वतंत्र आजीविका की संभावनाओं के विषय में जानने को आतुर थे.

पर जितना वे जान चुके थे, उतना ही अनिल के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ. अंतिम वर्ष में जब वह अपने विशेष प्रशिक्षण के लिए 'ललित-कला' का चुनाव कर रहा था, तो उसके पुराने, पूर्व-परिचित पापा लौट आये. वे अड़ गये कि चित्रकला का अध्ययन तो उसने अपने हठ से किया ही है, अब वह उनकी समझदारी की सलाह माने और विशेष प्रशिक्षण के लिए 'व्यावसायिक कला' को चुने ताकि किसी एडवर्टाइजिंग एजेंसी में कोई ढंग की नौकरी कर सके.

अपने चार वर्षों के प्रशिक्षण में अनिल पूरा-पक्का चित्रकार ही नहीं कलाकार भी बन गया था. मैं कई बार उसके साथ घूमने निकलता था और देखता था कि वह बस-स्टॉप पर खड़े-खड़े आधे घंटे में अपने पेन से पचास आकृतियां आंक देता था. उसका पेन जैसे आकृतियों का कारखाना था. उसकी आंखें एक झलक देखती थीं और अगले ही क्षण उसका पेन उस आकृति को कागज पर उतार देता था. उस व्यक्ति का रंग-रूप, उसकी आकृति-प्रकृति, उसका हाव-भाव और उसका चरित्र . . . अनिल चित्रकार क्या था, एक्सरे मशीन था. न उसकी आंख से कुछ छिपता था, न पेन से. हॉस्टल के अपने कमरे में जब वह ब्रश से पेंट करता था तो मानो आकृति के साथ, उस चित्र में प्राण भी आ बसते थे . . .साथ ही साथ उसने अपना स्वतंत्र कला-दर्शन भी विकसित किया था. उसका कलाकार ही नहीं चिंतक भी सजग हो गया था. कला क्यों है? चित्रकला मानवता के विकास में कैसे उपयोगी है? उसका धर्म क्या है? घंटों वह इन विषयों पर बहसें कर सकता था . . . उसकी कला में जैसे मानवीय आकृतियों और प्राकृतिक दृश्यों के सामंजस्यपूर्ण सम्मिलन से जन-जीवन का एक नया दर्शन जन्म ले रहा था.

और पापा कह रहे थे कि वह व्यावसायिक कला का प्रशिक्षण ले.

रवींद्रनाथ टैगोर का पत्र पत्नी के नाम

मुझे सुखी बनाने के लिए विशेष प्रयत्न न किया करो. . . तुम्हारे अंतर का प्रेम ही मेरे लिए यथेष्ट है. यह ठीक है कि यदि तुम्हारे और मेरे बीच सभी कामों और सभी भावों में सहयोग रहता तो बहुत अच्छा होता—पर यह बात किसी की इच्छा के अधीन नहीं है. यदि तुम मेरे साथ सभी प्रकार के कामों में, सभी प्रकार की शिक्षा में योग दे सकतीं तो मुझे अवश्य प्रसन्नता होती. जीवन में दो जनों का आपस में मिलकर सभी विषयों में साथ-साथ अग्रसर होने का प्रयत्न करने से आगे बढ़ने की क्रिया आसान हो जाती है. मैं तुम्हें किसी भी विषय में लांघकर आगे बढ़ने की इच्छा नहीं रखता हूं. पर तुम पर जोर डालने से तुम्हें पीड़ा पहुंचेगी यह आशंका सब समय मन में बनी रहती है. सभी की रुचि, अनुराग और अधिकार के विषय स्वतंत्र होते हैं. मेरी इच्छा और अनुराग के साथ अपनी समस्त प्रकृति को मिला देने की क्षमता तुम्हारे अपने बस की नहीं है. इसलिए इस संबंध में अधिक माथापच्ची न करके अपने प्यार द्वारा जतन द्वारा मेरे जीवन को यदि तुम मधुर बना सको, मुझे अनावश्यक दुखों और कष्टों से बचाने की चेष्टा कर सको तो वह चेष्टा मेरे लिए बहुमूल्य सिद्ध होगी. ☐ (पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे पत्र से)

वे अपने नालायक बेटे का भविष्य सुधारने का एक और जोरदार प्रयत्न कर रहे थे . . .

किंतु अनिल के भीतर का कलाकार अब इतनी चढ़ाई चढ़कर नीचे उतरने को तैयार नहीं था. इस बार पिता-पुत्र का झगड़ा कुछ अधिक जोरदार हुआ. पुत्र का आत्मबल बढ़ा हुआ था और पिता का वार्धक्य!

अनिल का अपने घर आना-जाना बंद हो गया. माता-पिता से सारे संपर्क टूट गये. यहां तक कि अपनी पढ़ाई पूरी कर अनिल जब कुछ और अधिक सीखने के लिए रोम और पेरिस गया तो न वह माता-पिता से मिलने आया और न माता-पिता ने ही उससे मिलने का कोई प्रयत्न किया.

केबिन के दरवाजे पर आहट हुई.

अनिल लौट आया था.

"पापा सो रहे हैं क्या?" उसने पूछा.

"हां! सो ही रहे हैं." मैं कुर्सी से उठकर उसके पास आ गया था.

"थोड़ी देर के लिए भी नहीं जागे?"

"स्पंज के बाद जागे तो थे, पर फिर अपने-आप ही सो गये."

"तुमने कोई बात की?"

"नहीं!"

उसके चेहरे पर वैसी ही निराशा थी जैसी उसके सर्वश्रेष्ठ चित्रों की प्रदर्शनी पर एक भी रिव्यू न निकलने पर होती.

वह काफी कुछ ले आया था. प्लेटें इत्यादि पहले से ही केबिन में रखी हुई थीं. उसने मेज को खासी डायनिंग टेबल बना दिया था.

हम चुपचाप खाना खाते रहे. पिता बेहोशी की नींद सो रहे थे. और पुत्र अवसाद के मारे गुम हो गया था. ऐसे में भला मैं ही क्या बोलता.

. . . वर्तमान के मौन में फिर कहीं अतीत मुखर हो उठा . . .

यद्यपि यूरोप जाते हुए अनिल अपने माता-पिता से सारे संबंध तोड़ गया था; पर उसके भारत लौटने के बाद उसके विवाह के अवसर पर दोनों ही ओर से प्रयत्न हुआ कि उसके संपर्क ही नहीं, संबंध भी जुड़ जायें.

उसके पिता उससे जुड़ना चाहते थे, ताकि अपने रिश्तेदारों में कोई अच्छी-सी लड़की देखकर उसका विवाह कर सकें; और अनिल उनसे जुड़ना चाहता था कि अपने और ऐमिली के विवाह पर उनका आशीर्वाद पा सके. पर दोनों में से कोई भी अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाया. न पिता अपनी पसंद की बहू पा सके और न अनिल ऐमिली के लिए उनका आशीर्वाद! दोनों ओर से प्रयत्नों की सक्रियता, पहली दूरी को और भी बढ़ा अवश्य गयी.

उसके बाद अनिल एक ही बार अपने माता-पिता के घर गया था. वह भी अकेला. अपनी माता के देहांत पर . . .

अब शायद उसके पापा का अंतिम समय था. मैं भूत से उबरकर वर्तमान में आया.

अनिल जाने किस सोच में डूब गया था. वह कुछ खा भी नहीं रहा था.

"अरे अनिल तुम खा नहीं रहे." मैंने उसे टोका.

मेरा टोकना जैसे उसके लिए कुरेद का काम कर गया. उसका चेहरा कैसा हो आया—जैसे उसके स्टूडियो में उसकी अपनी बनायी हुई एक उदास बूढ़े चेहरे की पेंटिंग.

"क्या हो गया है तुम्हें?" मैंने फुसफुसाकर पूछा.

"कुछ नहीं!" वह हाथ में पकड़े ग्रास को प्लेट में रखकर उठ खड़ा हुआ, "टेरिबल! पापा मुझे पहचान ही नहीं रहे . . . "

उसके इस वाक्य ने जैसे मेरे भीतर भी बहुत कुछ छील दिया. मन हुआ कि कुछ रोष के साथ पूछूं, "तेरे पापा ने सारा जीवन, कभी तुझे पहचाना भी था? . . ."

पर फिर अपने-आपको संयत किया. वह पहले ही इतना उदास था. . . . और मैं ठीक-ठीक समझ भी नहीं पा रहा था कि वह किस पहचान की बात कर रहा था . . . ☐

● 175, वैशाली, दिल्ली-110034

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफाइयां

रमेश उपाध्याय

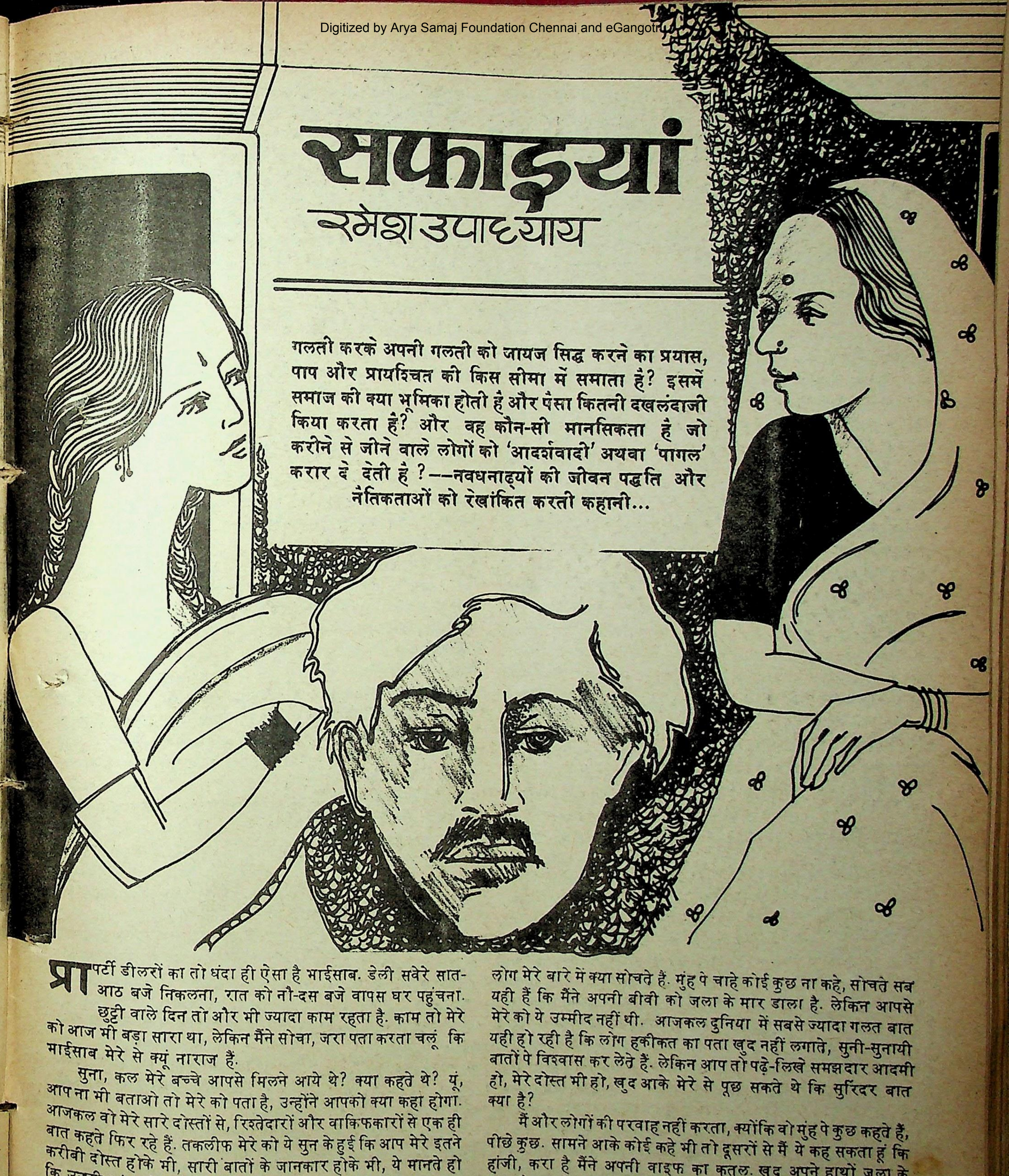

गलती करके अपनी गलती को जायज सिद्ध करने का प्रयास, पाप और प्रायश्चित की किस सीमा में समाता है? इसमें समाज की क्या भूमिका होती है और पैसा कितनी दखलंदाजी किया करता है? और वह कौन-सी मानसिकता है जो करीने से जीने वाले लोगों को 'आदर्शवादी' अथवा 'पागल' करार दे देती है?—नवधनाढ्यों की जीवन पद्धति और नैतिकताओं को रेखांकित करती कहानी...

प्रापर्टी डीलरों का तो धंदा ही ऐसा है भाईसाब. डेली सवेरे सात-आठ बजे निकलना, रात को नौ-दस बजे वापस घर पहुंचना. छुट्टी वाले दिन तो और भी ज्यादा काम रहता है. काम तो मेरे को आज भी बड़ा सारा था, लेकिन मैंने सोचा, जरा पता करता चलूं कि भाईसाब मेरे से क्यूं नाराज हैं.

सुना, कल मेरे बच्चे आपसे मिलने आये थे? क्या कहते थे? यूं, आप ना भी बताओ तो मेरे को पता है, उन्होंने आपको क्या कहा होगा. आजकल वो मेरे सारे दोस्तों से, रिश्तेदारों और वाकिफकारों से एक ही बात कहते फिर रहे हैं. तकलीफ मेरे को ये सुन के हुई कि आप मेरे इतने करीबी दोस्त होके भी, सारी बातों के जानकार होके भी, ये मानते हो कि उनकी मां मरी नहीं, उसको मारा गया है.

यूं, मैं किसी गलतफहमी में नहीं रहता भाईसाब! मेरे को पता है, लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं. मुंह पे चाहे कोई कुछ ना कहे, सोचते सब यही हैं कि मैंने अपनी बीवी को जला के मार डाला है. लेकिन आपसे मेरे को ये उम्मीद नहीं थी. आजकल दुनिया में सबसे ज्यादा गलत बात यही हो रही है कि लोग हकीकत का पता खुद नहीं लगाते, सुनी-सुनायी बातों पे विश्वास कर लेते हैं. लेकिन आप तो पढ़े-लिखे समझदार आदमी हो, मेरे दोस्त भी हो, खुद आके मेरे से पूछ सकते थे कि सुरिंदर बात क्या है?

मैं और लोगों की परवाह नहीं करता, क्योंकि वो मुंह पे कुछ कहते हैं, पीछे कुछ. सामने आके कोई कहे भी तो दूसरों से मैं ये कह सकता हूं कि हांजी, करा है मैंने अपनी वाइफ का कतल. खुद अपने हाथों जला के मारा है उसको. बच्चों की जिंदगी बरबाद कर दी है सौतेली मां को उनके सर पे बिठा के. बोलो, क्या कर लोगे मेरा? पुलिस के पास जाओगे?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोर्ट में जाके मेरे पे केस चलाओगे? जाओ, चलाओ. मैं किसी से नहीं डरता. लेकिन भाईसाब, आप भी मेरे बारे में गलत ख्याल रक्खो, ये मेरे को मंजूर नहीं. एक आप ही तो हो, जिससे मैं दिल की बात कह सकता हूं, क्यूंकि आप मेरे से बिल्कुल स्पष्ट और जस्ट बात करते हो. आपकी बातों में मेरे को छल-कपट और स्वार्थ की बू नहीं आती.

इसीलिए कल बच्चों से आपके ख्यालात सुनके मेरे को बड़ा अफसोस हुआ. मैं उसी वक्त आपके पास आने वाला था, लेकिन रात बहुत हो गयी थी. फिर मैंने सोचा, कल छुट्टी है, कल ही फुसरत से जाके बात करूंगा.

आप ये ना समझना कि मैं मेरे बच्चों की शिकायत लगा रहा हूं, या कि मेरे को उनसे प्यार नहीं है. लेकिन आप नहीं जानते भाईसाब, मेरे बच्चे बड़ी जालिम चीज हैं. आप ही बताओ, दिल्ली में डेली दो-चार औरतें सुइसाइड करती हैं, क्या सारियों के बच्चे अपने बाप को मां का कातिल समझ के उससे लड़ने लग जाते हैं? लेकिन मेरे बच्चे मेरे घर को अपोजीशन पार्टी का दफ्तर बनाये हुए हैं. घर के अंदर मेरे खिलाफ मोर्चा लगाया हुआ है, बाहर मेरे खिलाफ प्रोपेगंडा करते घूमते हैं. जस्ट-अनजस्ट डिमांडें करते हैं और मेरे से लड़ते हैं.

लोग कहते हैं, सौतेली मां के आ जाने से बच्चों को तकलीफ हो ही जाती है, लेकिन मेरे बच्चों के साथ ऐसी कोई बात नहीं. सुम्मी को आप जानते हो, कितनी स्वीट और साइलेंट नेचर वाली लड़की है. फिर वो कोई सौतेली मां नहीं, उनकी सगी मासी है. बहन के बच्चों को बिल्कुल अपने बच्चों की तरह प्यार करती है. बच्चे भी कोई दूध पीते बच्चे नहीं, समझदार हैं. अमरेश बीए फर्स्ट इयर में आ गया है, अंजू ग्याहरवीं में पढ़ रही है, अनीता नौवीं में. तीनों को मैंने दिल्ली के वन ऑफ दी बेस्ट पब्लिक स्कूल में डाल के पढ़ाया है.

उनको तकलीफ क्या है? खाने-पहनने को अच्छे से अच्छा मिलता है. घर का कोई काम उनको करना नहीं पड़ता. नौकर है, आया है. जो चीज चाहते हैं, मैं दिलाता हूं. कई चीजें सुम्मी खुद ही उनके वास्ते ले आती है. ब्लैक एंड व्हाइट टीवी पहले से था, उनके कहते ही मैंने उनको कलर टीवी लाके दिया. फिर वीसीआर भी लेके आया. अमरेश को स्कूटर पहले ही दिला रक्खा था, लेकिन उसकी जिद्द पर मैंने फियेट होते-सोते नयी मारुती भी खरीदी. तीनों को हर नये फैशन की ड्रेसें सिलवा के देता हूं. जब भी कहते हैं, फाइव स्टार होटलों में ले जाके उनको लंच और डिनर खिलाता हूं. शिमला, कश्मीर या साउथ वगैरह घूमने जाना चाहते हैं तो उसका भी इंतजाम करता हूं. ऊपर से तीनों को कैश पाकिट मनी देता हूं, जिसका कोई हिसाब मैं नहीं रखता. आप बताओ, उनको प्यार करने में मैंने कोई कमी रक्खी है? फिर भी वो मेरे से नफरत करते हैं, सुम्मी से नफरत करते हैं, हम दोनों को अपनी मां का कातिल बताते हैं.

यूं, भाईसाब, कभी-कभी मेरे को भी लगता है कि कसूरवार मैं ही हूं. ना सुम्मी के साथ मेरा अफेयर होता, ना उम्मी मरती, ना ये बच्चे इस तरह बिगड़ते. लेकिन फिर ख्याल आता है, मैं कौन हूं? ऊपरवाला जो चाहता है, वही होता है. मैं बच्चों को भी यही समझाने की कोशिश करता हूं कि तुम्हारी मां की मौत आयी हुई थी. परमेश्वर की मर्जी के खिलाफ कौन उसको बचा सकता था? लेकिन आजकल के बच्चे तो पैदा ही नास्तिक होते हैं ना! ऊपर से ये जो नारी-मुक्ति वाली बहनजियां पैदा हो गयी हैं, ये भी देश का भट्ठा बिठाने में लगी हुई हैं. इनके ख्याल से जल के मरने वाली हर औरत मकतूल है और ऐसी हर औरत का मर्द उसका कातिल. इस सबका असर तो बच्चों पर पड़ना ही हुआ.

लेकिन आप, भाईसाब, यकीन करो ना करो, सुम्मी को मेरे बच्चे बेकार बदनाम करते हैं. उम्मी को तो यूं भी किसी दिन सुइसाइड करके मरना ही था. दुनिया में कोई सही दिमाग वाला बंदा सुइसाइड नहीं करता. उम्मी, ईश्वर उसकी आत्मा को शांति दे, शुरू से ही कुछ पागल-सी थी. पहले मेरे को इस चीज का ख्याल नहीं हुआ था, लेकिन उसके मरने के बाद मेरे को ज्यूं-ज्यूं उसकी सारी बातें याद आती गयीं, मेरे को यकीन होता गया कि वा पागल ही थी.

उसके पागलपन का पहला सबूत तो आप ये समझो कि एक पैसे वाले परिवार की लड़की होके भी उसने मेरे जैसे नाचीज बंदे से लव मैरिज करी. हालांकि मेरे मां-बाप बहुत ज्यादा गरीब नहीं थे; उन्होंने मेरे को जहां तक हो सका, अच्छा खिलाया, अच्छा पहनाया, बीए तक पढ़ाया भी; ये भी सही है कि मैं जब बीए में उम्मी के साथ पढ़ता था, काफी हैल्दी, हैंडसम और स्मार्ट लड़का हुआ करता था; कोई भी लड़की मेरे को प्यार कर सकती थी; लेकिन उम्मी ने अपने जैसे स्टैंडर्ड वाले लड़कों को छोड़ के मेरे को प्यार करा. चलो, प्यार तो होता रहता है, लेकिन उसने शादी भी मेरे से ही करी, जबकि मैं उस वक्त एडमिनिस्ट्रेशन में लोअर डिवीजन क्लर्क ही था.

सच कहता हूं भाईसाब, पहले-पहल तो मेरे को विश्वास ही नहीं हुआ था कि वो मेरे को प्यार करती है. उसने खुद बता रक्खा था कि उसके फादर मरते वक्त काफी तगड़ी प्रापर्टी छोड़ गये थे. एक्साइज इंस्पेक्टरों की तो, आप जानो, अंधी कमाई होती है. अपनी सर्विस में काफी पैसा बनाया था उन्होंने. रानी बाग में अपना मकान तो बना ही लिया था, उत्तम नगर में एक प्लाट भी लेके डाला हुआ था. फिर, पीएफ था, इंश्योरेंस था, फिक्स डिपाजिट था. बैंक बैलेंस भी काफी तगड़ा ही होगा. ऊपर से मकान का पिछला पोर्शन किराये पे चढ़ाया हुआ था, जिसका हर महीने दो-ढाई सौ रुपये किराया आ रहा था. ये सब सोच-सोच के मेरे को बड़ा ताज्जुब होता था कि इतनी अमीर लड़की मेरे जैसे मामूली हैसियत वाले लड़के से प्यार क्यूं करती है!

आखिर एक दिन मैंने उससे पूछ ही लिया. सुन के वो कहती है, "सुरिंदर, पैसा अपने घर में मैंने बहुत देखा है. लेकिन ये भी देखा है कि पैसा इंसान को इंसान नहीं रहने देता. पापाजी को पैसा पैदा करने की ऐसी धुन थी कि वो दिन-रात उसी में खोये रहते थे. खूब कमाते थे, खूब उड़ाते थे. अक्सर घर से बाहर रहते थे और खूब शराब पीते थे. चाईजी का, हम बच्चों का कोई ख्याल नहीं. हफ्तों हम लोगों को उनकी सूरत देखने को नहीं मिलती थी. घर आते भी थे तो नशे में टुन्न. चाईजी शिकायत करतीं तो झगड़ा, मारपीट. हम बच्चों को हमेशा डांटते ही रहते. मारते भी थे. नशा उतर जाने पर पछताते थे, रोते थे, माफियां मांगते थे और प्यार जताने के लिए कभी खूब सारे नोट निकाल कर दे देते थे, कभी बाजार ले जाके चीजें दिला देते थे. बस, तभी से मेरे दिल में ये बात आ गयी कि मेरे को किसी ऐसे आदमी के साथ शादी नहीं करनी, जो पैसे के पीछे पागल रहे. मैं चाहती हूं, बंदा गरीब ही क्यूं ना हो, मेरे को प्यार करे, मेरे पास बैठे, मेरा सुख-दुख शेयर करे. मैं ऐसे आदमी के साथ रूखी रोटी खाके भी गुजारा कर लूंगी, कोई शिकायत नहीं करूंगी."

उस वक्त भाईसाब, मेरे को उसकी ये बातें बहुत अच्छी लगती थीं. पिक्चरों में भी इस तरह के डायलाग मेरे को बहुत अच्छे लगते थे. पिक्चरों में मैंने कई बार अमीर लड़कियों को गरीब लड़कों के साथ प्यार और शादी करते देखा था, इसलिए मैं ये सोच के खुश भी होता था कि देखो, हकीकत में मेरे साथ ऐसा हो रहा है. लेकिन आज सोचता हूं तो लगता है, उम्मी का वो प्यार सिर्फ एक पागलपन था, जिसकी सजा उसको कभी ना कभी मिलनी ही थी.

उसके पागलपन का दूसरा सबूत ये है कि वो हद दर्जे की आदर्शवादी थी. लव मैरिज कई लोग करते हैं, लेकिन ये नहीं कि पेरेंट्स के पास पैसा होते-सोते कोई लड़की अपनी शादी बिना दहेज के कराना चाहती हो. ये नहीं है कि उसकी मदर—जिनको वो 'चाईजी' कहती थी. . .बहुत कंजूस औरत थीं. . .और मैं तो कहता हूं कि वो कंजूस ना होतीं तो शायद उम्मी की मौत इस तरह ना होती—लेकिन विधवा ही क्यूं ना हो, गरीब ही क्यूं ना हो, कोई मां ऐसी नहीं होती, जो बेटी की शादी में कुछ भी ना दे. फिर चाईजी के पास तो पैसा था, दे भी सकती थीं. ज्यादा नहीं, थोड़ा-मोड़ा दहेज तो देना ही था उन्होंने. लेकिन उम्मी अड़ गयी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे को कहती है, "अपन कोर्ट में मैरिज करेंगे. आगे ही जब हमने पैसे वालों की जिंदगी नहीं जीनी तो शादी के वक्त ही क्यूं अमीरों वाली शान दिखायें?"

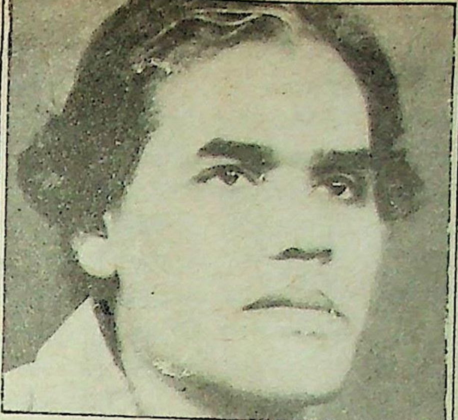

● रमेश उपाध्याय

ईमानदारी की बात है भाईसाब, मेरे को ये सुन के अच्छा नहीं लगा. मेरे पेरेंट्स को तो बहुत ही बुरा लगा, जो ये सोच के बैठे थे कि सुरिंदर की शादी में तगड़ा दहेज मिलेगा. मैं खुद ये सोचता था कि शादी में अगर ठीक-ठाक दहेज मिल गया तो नौकरी छोड़ के कोई छोटा-मोटा बिजनस डाल लूंगा. मां-बाप ने मेरे को समझाया भी कि ऐसी पागल लड़की से शादी ना कर, लेकिन मैं उम्मी को वाकई प्यार करता था और उसके विचारों का असर मेरे पर भी उस वक्त इतना गहरा था कि मैं भी आदर्शवादी बन गया. मां-बाप की मरजी के खिलाफ बिना दहेज वाली शादी के लिए तैयार हो गया. उधर चाईजी के तो मजे आ गये. उनको उम्मी की शादी में एक नयी पाई नहीं खरचनी पड़ी.

उम्मी की मौत के बाद एक दिन नारी-मुक्ति वाली बहनजियां मेरे घर के आगे प्रदर्शन करने आ गयीं. वो समझती हैं कि जितनी भी औरतें जल के मरती हैं, दहेज के लिए जला के मारी जाती हैं. मैंने उनको अपनी शादी के वक्त का ये वाकया सुना के पूछा, "अगर मेरे दिल में दहेज का लालच होता तो मैं उम्मी के साथ शादी करता ही क्यूं? या मैं शादी के बाद ही उसको जला के मार देता और दूसरी शादी में दहेज लेके अपने मां-बाप को खुश कर देता, अपना भी कैरियर बना लेता."

शादी के बाद अगर मैं अपने मां-बाप के साथ ही रहता तो ऐसा हो भी सकता था भाईसाब! वो लोग रोज उम्मी को ताने-कोसने दिया करते थे कि वो मां के पास इतनी दौलत होते हुए भी दहेज क्यूं नहीं लायी. उम्मी रोज रात को रो-रोके सारी बातें मेरे को बताया करती थी. मेरे को गुस्सा आता था और मैं अपने मां-बाप से, भाई-बहनों से जाके लड़ता था. आखिर एक दिन मेरे फादर ने कह दिया, "अगर तेरे लिए तेरी बीवी ही सब कुछ है तो जा, निकल जा उसके साथ मेरे घर से."

और भाईसाब, आप मेरा आदर्शवाद देखो! मैं वाकई उम्मी को साथ लेके निकल गया. लाजपतनगर में एक कमरा लेके रहने लगा. उम्मी को मैंने कहा, "देख, तेरे लिए मैंने अपना सारा कुछ छोड़ दिया. अब तू भी मेरा साथ दे. जिंदगी सिर्फ प्यार से नहीं चलती, पैसा भी चाहिए. हम लोगों को अपनी इनकम बढ़ाने के लिए कुछ न कुछ करना पड़ेगा. तू बीए पास है, कोई नौकरी कर ले. मैं तेरे लिए कोशिश करता हूं. दोनों कमायेंगे और ऐश करेंगे."

उम्मी खुद सर्विस करना चाहती थी, लेकिन उसके साथ दिक्कत ये थी कि वो इंग्लिश नहीं बोल पाती थी. चाईजी ने बाद में सुम्मी और सतपाल को तो पब्लिक स्कूल में डाल के पढ़ाया, लेकिन उम्मी की पढ़ाई सरकारी स्कूल में ही हुई. यूं, मैं भी सरकारी स्कूल में ही पढ़ा था, लेकिन मैंने बीए करते वक्त इंग्लिश बोलने की प्रेक्टिस कर ली थी. उम्मी ये नहीं कर पायी और नतीजा ये हुआ कि आगे चल के उसको अंग्रेजी से ही नहीं, अंग्रेजी बोलने वालों से भी नफरत हो गयी. हां, हिंदी उसकी बहुत अच्छी थी, लेकिन सर्विस में हिंदी को कौन पूछता है? फिर हुआ ये कि जब तक उसको कोई जॉब मिलती, मेरा बेटा अमरेश पैदा हो गया और उम्मी सर्विस की बात भूल के उसी में मस्त हो गयी.

घर में बच्चा आ जाये भाईसाब, तो बाप को फिकर होनी ही हुई. मैंने उम्मी को फिर कहा, "अब तो इनकम बढ़ाने के लिए कुछ करना ही पड़ेगा." लेकिन वो कहने लगी, "सर्विस करूंगी तो बच्चे को किसके पास छोड़ूंगी?" मैंने कहा, "चाहे तो मेरे मां-बाप के पास चल के रह, चाहे लड़के को अपनी मां के पास छोड़ दे." लेकिन वो दोनों में से किसी बात के लिए तैयार नहीं हुई. तब मैंने उसको एक आइडिया दिया, "क्यूं ना मैं सर्विस छोड़ के कोई छोटा-मोटा बिजनस कर लूं? तू चाईजी से कह के मेरे को बीस-तीस हजार रुपये उधार दिला दे. सर्विस में आजकल कुछ नहीं रक्खा, बिजनस वालों के मजे ही मजे हैं. मैं जल्दी ही उनकी रकम लौटा दूंगा." उम्मी को आइडिया पसंद आया और वो चाईजी से जाके बात करने को तैयार हो गयी.

लेकिन चाईजी तैयार नहीं हुई. उल्टे मेरे को कहने लग गयीं, "सुम्मी और सतपाल की पढ़ाई पे बड़ा खरच हो रहा है, सुरिंदर. कोई कमाने वाला तो रहा नहीं. समझ नहीं आता, कैसे गुजारा चलेगा!" सुम्मी उस वक्त शायद बारह-तेरह साल की थी, सतपाल नौ-दस का. दोनों बच्चे ही थे और भाईसाब, बच्चे कुछ ना कुछ खरच तो कराते ही हैं. लेकिन बुड्ढी अपने बच्चों की छोटी-छोटी जरूरतें पूरी करने में भी कंजूसी करती थी. उनके सामने ही उम्मी से और मेरे से कहने लगी, "पूछ लो इनसे, ये छोटी-छोटी चीजों के लिए भी तरसते रहते हैं कि नहीं?"

मैं तो बुड्ढी का खेल समझ गया, लेकिन आप उम्मी का पागलपन देखो; मां की बात सुनके अपने भाई-बहन पर उसको इतना तरस आया कि रोने लग गयी. उसने ये नहीं देखा कि ये सारा ड्रामा मेरे को रकम उधार ना देने के लिए है, समझने लग गयी कि चाईजी के पास वाकई कुछ नहीं बचा है. और इसके बाद उसने क्या बेवकूफी शुरू करी, आप यकीन नहीं करोगे.

मैं सारी तनखा लाके उसी के हाथ में रख देता था, और वो ये जानती थी कि तनखा के अलावा मेरी कोई और इनकम नहीं है. उस वक्त भाईसाब, मैं भी बड़ा आदर्शवादी हुआ करता था. आफिस में कई लोग अपने काम निकलवाने के लिए मेरे को पैसा आफर करते थे, लेकिन मैं उनको डांट के भगा देता था. बड़े से बड़े अफसर के कहने पर भी कोई गलत काम नहीं करता था. कह देता था, "करप्शन कराना है तो आप दूसरे बाबुओं से करा लो, मैं नहीं करूंगा." और तनखा उस वक्त मेरे को कितनी मिलती थी? तीन सौ और कुछ रुपये. लेकिन उम्मी पैसा हाथ में आते ही भाई-बहन को ले आती थी और फिर वो कभी उनको पिक्चरें दिखाने ले जा रही है, कभी उनको ले जाके होटलों में खाना खिला रही है, कभी उनको कपड़े दिला रही है, कभी कोई और चीज खरीद के दे रही है. बस जी, हफ्ते बाद पैसे खतम और वो मेरे सिर पे सवार. मैंने कई बार उसको कहा, "देख, मैं तेरे पापाजी की तरह एक्साइज इंस्पेक्टर नहीं हूं. खरच जरा किफायतसारी के साथ किया कर." लेकिन उस पर तो अपनी मां और भाई-बहन की मदद करने का भूत सवार हो गया था. मैं करज लेता थक जाता, वो खरच करती ना थकती.

मैं कई लोगों को जानता हूं भाईसाब, जिन्होंने बिजनस स्टार्ट करने के लिए शादी के बाद दहेज लिये हैं. आप भी कई लोगों को जानते होंगे, जो दहेज लेके आने के लिए वाइफों को मजबूर करते हैं, टार्चर करते हैं, और फिर भी नहीं लाके देने पर पहली वाइफ का मर्डर करके दूसरी शादी कर लेते हैं. मैं इस तरह का आदमी होता तो चाईजी से पैसा निकलवाने के लिए उम्मी को टार्चर करता, या उसी वक्त उसका मर्डर कर देता.

लेकिन उसका ना करके, भाईसाब, मैंने अपना ही मर्डर कर लिया. वो इस तरह कि जो सुरिंदर कुमार अपनी मेहनत, सच्चाई और ईमानदारी के लिए सारे एडमिनिस्ट्रेशन में मशहूर था, एकदम करप्ट, घूसखोर और अफसरों की चमचागीरी करने वाला बंदा बन गया. मैंने रिश्वतें खाना शुरू कर दिया. अफसरों को बाकायदा उनका हिस्सा देने लग गया. उनकी चमचागीरी और दरबारदारी करने लग गया, जबकि पहले मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रष्ट अफसरों को नमस्ते तक नहीं करता था!

आप हंस रहे हो? क्यूं? समझ नहीं आता, जब मैं मेरी ईमानदारी की बात करता हूं, लोग क्यूं हंसने लग जाते हैं. जबकि उम्मी को ईमानदारी की देवी समझते हैं. लेकिन आप ये सोचो कि मेरे को बेईमान बनाया किसने? उसी ने. शुरू में वो बड़ी आदर्शवादी थी, गरीबी में गुजारा करने की बात करती थी, लेकिन अमरेश के पैदा होने के बाद उसके वो सारे विचार बदल गये. दो साल बाद अंजू के पैदा होने तक वो इतनी बदल चुकी थी कि मैं क्या बताऊं!

अब वो ये चाहने लगी कि मैं चाईजी, सुम्मी और सतपाल को तो सपोर्ट करूं ही करूं, उस पर और उसके बच्चों पर भी खूब खुल्ला खरच करूं. उसको रोज नये सूट सिलवा के दूं, साड़ियां लाके दूं, गहने बनवा के दूं, रोज पिक्चरें दिखाऊं, टैक्सियों में घुमाऊं, होटलों में खाना खिलाऊं, डिस्को और कैबरे दिखाऊं. इतना ही नहीं, उसके वास्ते शानदार कोठी बनवा के दूं. कोठी में टीवी, टेलीफोन वगैरह लगवा के दूं. चलने के लिए कार लेके दूं. बच्चों के वास्ते आया रक्खूं. दूसरे कामों के लिए नौकर, माली, ड्राइवर वगैरह रक्खूं!

लेकिन मजे की बात आप ये देखो, कहती वो ये थी कि ये सब वो अपने लिए नहीं चाहती. कहती थी, "मेरे को तुमसे कुछ नहीं चाहिए. मैं तो सूखी रोटी और फटे कपड़ों में भी गुजारा कर लूंगी. लेकिन अपने बच्चों को मैं दुखी नहीं देख सकती. उधर सुम्मी, सतपाल भी बच्चे ही हैं. उनके लिए भी कुछ करने का अपना फर्ज बनता है."

मैं उसको समझाता, "देख उम्मी, तू अपनी सोच, अपने बच्चों की सोच. चाईजी अपने बच्चों की फिकर आप कर लेंगी." ये सुन कर वो मेरे से लड़ने लग जाती, "मैंने तुमको पहले ही कहा था, मेरे को पैसा नहीं चाहिए. मैं घर में अकेली पड़ी रहती हूं, मेरा दिल नहीं लगता, आफिस से सीधे घर आया करो. लेकिन अब तुमको मेरे से नहीं, पैसे से प्यार हो गया है. रात को दस-दस बजे आते हो और खा-पीके सो जाते हो. मैं अकेली दो-दो बच्चों को कैसे संभालती हूं, तुम पूछते तक नहीं. मदद के लिए सुम्मी-सतपाल को बुलाती हूं तो तुमको बुरा लगता है. कभी चाईजी से मिलने चली जाती हूं तो भी तुमको बुरा लगता है."

अब आप ही देखो भाईसाब, आठ घंटे आफिस में नौकरी करने वाला बंदा, जिसको एक्स्ट्रा इनकम के लिए दूसरे भी पचास धंधे करने पड़ते हों, कैसे अपनी वाइफ को पूरा टाइम दे सकता है? इतनी पढ़ी-लिखी होके भी वो ये नहीं समझती थी कि टाइम इज मनी. वो पैसा भी चाहती थी और साथ ये भी चाहती थी कि मैं हरदम उसकी आंखों के आगे रहूं, बच्चों को संभालूं, उसकी मां और भाई-बहन का भी ख्याल रक्खूं.

सुम्मी-सतपाल अक्सर मेरे यहां पड़े रहते थे. दिखाते यूं थे जैसे कि वो मेरे बच्चों से प्यार करने और अपनी बड़ी बहन की मदद करने आते हैं, लेकिन असल में वो अपनी जरूरतों से आते थे. एक कमरे वाले मकान में, आप सोचो, कितनी दिक्कत होती होगी उनके आ जाने से. फिर वो ठहरे अपनी खुद की कोठी में रहने वाले. हरदम मेरे पीछे पड़े रहते, "जीजाजी, कोई अच्छा-सा मकान ले लो ना, इस कमरे में तो दम घुटता है."

मैं खुद इस चक्कर में था कि दूसरा मकान लूं, जिसमें कम से कम दो कमरे तो हों. कई बार मैंने चाईजी से कहा, "चाईजी, अपने किरायेदारों को निकाल के अपना पीछे वाला पोर्शन मेरे को दे दो ना, किराया बेशक पचास रुपये ज्यादा ले लेना." लेकिन वो हर बार कह देतीं, "ये घर भी तुम लोगों का ही है, यूं ही रहने आ जाओ. लेकिन बेटी-जंवाई से किराया लूंगी तो लोग क्या कहेंगे?" मैंने बताया ना, बुढ्ढो बड़ी चालाक है. सोचती होगी, किराया तो हम पीछे वाले दो कमरों का ही देंगे, इस्तेमाल पूरी कोठी का करेंगे. और क्या पता, किराया

लघुकथा

खुशनसीब

◘ रतीलाल शाहीन

वह अपने दोस्त के साथ बैठा अपने घर के दालान में दीवाली के पकवान का जायजा ले रहा था. दोस्त बिस्मिल्ला खान बैठा हुआ था और उसके सामने टबल पर रखी प्लेट में गुझिया, चकली, मठरी और घर में ही पकाया गया नमकीन चिवड़ा रखा हुआ था.

मुसलिम बहुल मुहल्ला है. एक रमेश का घर ही हिंदू घर है. लेकिन पुरखों-दादों के जमाने से साथ-साथ रहने के कारण हिंदू-मुस्लिम होने का भेदभाव कभी नहीं रहा. चाहे मेरठ में दंगा हो या अहमदाबाद में. जब भी कभी किसी के यहां बड़े का मांस बना है तो उस दिन उसने उस घर का चाय-पानी नहीं पिया है. इसलिए नहीं कि वह हिंदू है. वरन् उसका तर्क होता, "मैं बैल-भैंस का मांस खा नहीं सकता! पसंद अपनी-अपनी, ख्याल अपना-अपना!"

हिंदू के 'ह' को और मुसलमान के 'म' को मिलाकर वह हमेशा 'हम' करने की चेष्टा करता रहा. उस दिन तो दीवाली थी. भाई बिस्मिल्ला खान एक औपचारिकतावश मुबारकबाद देने आ गये थे, "दीवाली मुबारक हो!"

रमेश ने उन्हें बिठा ही लिया था, "आइए भाईजान!" और तब तक उसकी पत्नी ने पकवान की प्लेट बिछा दी थी.

बिस्मिल्ला भाई ने करंजी की तारीफ में पुल पर पुल बांध दिये तो रमेश अपने को रोक नहीं पाया. बिस्मिल्ला भाई के घर वाले यद्यपि कुछ कट्टरपंथी हैं और इस बात को रमेश के साथ-साथ बिस्मिल्ला भाई भी बखूबी जानते हैं. फिर भी रमेश ने करंजी से भरा थाल उनके घर पहुंचवा दिया. करंजी के थाल को अपने घर ले जाते देख बिस्मिल्ला भाई की छाती दो इंच और भी फूल उठी, "अरे साहब! खुशनसीब होते हैं जो वे ही ऐसी करंजी, अजी साहब क्या कहते हैं, हिंदुस्तानी भाषा में, अजी गुझिया, जनाब वे खुशकिस्मत लोग ही खा सकते हैं! रमेश भाई! सच कहता हूं, खुदा कसम! दीवाली भी मुबारक हो... और ऐसी लज्जतदार करंजी भी."

अभी वे बातें ही कर रहे थे कि बिस्मिल्ला भाई के घर से एक भिखारी आता दिखायी दिया. उसके हाथ में रमेश के घर की बनी हुई करंजी थी जिसे भिखारी खा रहा था और साथ ही उस भिखारी का सात वर्षीय बेटा भी. उस दृश्य को देखते ही बिस्मिल्ला भाई भौंचक रह गये थे. वे खुद को रोक नहीं पाये, "अरे जनाब! तुम भी खुशनसीब हो! बेहद खुशनसीब हो. ये करंजी कहां से मिल गयीं आपको जनाब!"

"अगले मकान वाली बीजी ने दिया!" भिखारी की आंखें खुशी की अतिरिक्त चमक से और भी चमकने लगी थीं, "कह रही थीं कि किसी हिंदू के घर की बनी हैं. वे लोग नहीं खाते! बाबू! उनके न खाने से हमारा बदनसीब, खुशनसीब बन गया. वरना तो हमें खाना ही नसीब नहीं हुआ है. आज लगा कि हम भी खुशनसीब हैं!"

भिखारी की बात सुनकर बिस्मिल्ला भाई को जैसे लकवा मार गया था. और रमेश की हालत, कुछ उनसे अच्छी भी नहीं कही जा सकती थी. □

● 37, नवापाड़ा, बांदरा पूर्व, बंबई-400051

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ना ही दें, या मकान पर अपना हक ही ना जताने लग जायें.

खैर, भाईसाब, मकान लेने के चक्कर में एक बात ये हुई कि मेरे को कई प्रापर्टी डीलरों से मिलना पड़ा. उनको देख के मेरे को आइडिया आया. . .यही वो धंधा है, जिसमें पल्ले से ज्यादा कुछ लगाये बिना इंसान खूब कमाई कर सकता है. मकान, दुकान, प्लाट वगैरह किसी और का, लेने वाला कोई और, आपका काम सिर्फ इतना कि दोनों को मिला के बात करवा दो और दोनों से कमीशन खा लो. बस जी, मैं एक छोटा-सा दफ्तर लेके बैठ गया, और आज आप मेरे को देख ही रहे हो. ईश्वर की कृपा से आज मेरे पास सब कुछ है. उम्मी अपना दिमाग सही रखती तो ये सारा कुछ उसी का था. जिंदा रहती, ऐश करती.

लेकिन कोई पागल ही हो जाये तो आप क्या कर सकते हो? यूं मेरे को लगता है कि पागल वो खुद नहीं हुई, चाईजी ने उसे पागल बनाया, लेकिन बंदा खुद बेवकूफ ना हो तो क्यूं पागल बने? एक बेवकूफी तो उसने ये की कि सुम्मी और सतपाल के ऊपर पैसा खरच कर-करके उनकी आदतें बिगाड़ दीं, दूसरी बेवकूफी ये कि जब वो इसके पास आके शिकायत करते कि चाईजी उनको फलां चीज नहीं दिला रही हैं तो ये चाईजी से लड़ने पहुंच जाती. चाईजी कहतीं, "देख, उम्मी, तू अपने बच्चों को संभाल, मेरे बच्चों को मैं संभाल लूंगी. तू इनकी शिकायतें लेके मेरे पास ना आया कर." सुन कर ये तैश में आ जाती और कहने लगती, "ठीक है, नहीं आऊंगी. आपको मेरी सौगंध है जो मेरा मुंह भी देखो. लेकिन अपने भाई-बहन को प्यार करने से आप मेरे को नहीं रोक सकतीं. मैं इनको ले जा रही हूं. इनको जो कुछ चाहिए, मैं दिलवाऊंगी."

अब हुआ भाईसाब, ये कि चाईजी तो और ज्यादा कंजूस होती गयीं और सुम्मी-सतपाल का सारा खर्चा मेरे सिर पड़ने लगा. कोई एक-दो रोज की बात हो तो इंसान सबर भी कर जाये, लेकिन रोज-रोज कोई कैसे दूसरों पर अपना पैसा लुटाता रहे? नतीजा ये हुआ कि उम्मी के साथ मेरे झगड़े होने लगे. मैं कहता, "माना, मेरा धंधा अच्छा चल पड़ा है, लेकिन चाईजी भी तो कोई माड़ी हालत में नहीं. वो खुद क्यूं नहीं अपना पैसा निकालतीं?" उम्मी पलट के जवाब देती, "चाईजी अपना फरज पूरा नहीं करतीं तो मैं भी ना करूं? !" आखिर एक दिन मैंने उसको कह ही दिया, "कभी ये भी सोचती है कि तू अपना फरज मेरे पैसे से पूरा कर रही है?"

बस जी, भाईसाब, ये सुनते ही उसको आग लग गयी. बोली, "रक्खो अपना पैसा और संभालो अपना घर. मैंने नहीं रहना अब तुम्हारे जैसे कमीने के साथ. मेरे को पता होता कि तुम ऐसे निकलोगे तो मैं तभी किसी पैसे वाले से शादी कर लेती!" ये कह के वो तो चल दी जी, कहीं मरने-खपने के लिए. मैं ही दौड़ के उसके पीछे गया, माफियां मांग-मांग के उसको वापस लेके आया. कह दिया, "जो तेरे जी में आये कर, अब मैं तेरे से कुछ नहीं कहूंगा."

उसके बाद मैंने उसको कुछ कहा भी नहीं भाईसाब, लेकिन उसने अपनी हालत अजीब-सी बना ली. अपने सारे शौक-मौज उसने खतम कर दिये. रानी बाग जाना बंद कर दिया. सुम्मी-सतपाल को बुलाना बंद कर दिया. मेरे साथ बाहर निकलना भी बंद कर दिया. मैं कहता, "चल, पिक्चर देखने चलते हैं." तो कह देती, "तुम देख आओ, बच्चों को दिखा लाओ, मैं इतने घर का कुछ काम कर लूंगी." अनीता जिस साल पैदा हुई, मैंने पंजाबी बाग में अपना मकान ले लिया था और बच्चों की देखभाल और घर का काम करने के लिए एक आया भी रख ली थी, लेकिन उम्मी खुद भी सारे दिन काम करती रहती थी. ना अच्छे कपड़े पहनना, ना कोई मेकअप करना. खाना भी ऐसी बेदिली से खाती जैसे कि सिर्फ जिंदा रहने के लिए खा रही हो.

मैं ये सब देख के दिल में अफसोस करता कि क्यूं मैंने उस दिन इसके साथ झगड़ा किया. उसको खुश करने के लिए मैं रानी बाग जाके कभी चाईजी को, कभी सुम्मी को, कभी सतपाल को ले आता. उनके आने पे खुश होती, पहले की तरह प्यार से पेश आती, खुद अपने हाथों खाना

निर्दोष कहानी

■ चंद्रगुप्त विद्यालंकार

साहित्य की सबसे नयी विधा कहानी है. उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उसका जन्म माना जा सकता है. यह वह युग था, जब साहित्य की अन्य विधाएं रीतिकालीन बंधनों से मुक्त हो रही थीं. पर आजादी के उस युग में जन्म लेकर भी कहानी क्रमशः अधिक-अधिक बंधनों में जकड़ती चली गयी. इतना कि एक अच्छी कहानी लिख सकना अत्यंत दुस्साध्य काम बन गया.

यह कितनी विचित्र स्थिति है कि साहित्य की जो विधा आज सबसे लोकप्रिय है, जिस विधा में प्रतिमास बहुत बड़ी संख्या में रचनाएं की जा रही हैं, वह विधा वास्तव में इतनी कठिन है. यह एक विचित्र विरोधाभास-सा प्रतीत होता है कि कहानी नामक यह लोकप्रिय विधा एक ओर इतनी सरल है कि प्रत्येक मानसिक स्तर का व्यक्ति आज कलम पकड़ते ही कहानी लिखने लगता है. . .और दूसरी ओर अच्छे से अच्छे माने-जाने वाले लेखक जीवन भर में एक भी वास्तव में अच्छी और पूरी तरह निर्दोष कहानी नहीं लिख पाते. □

—प्र. वीज.

बनाती, खाना खिलाती, लेकिन इसके अलावा उन लोगों पे एक पैसा भी ना खरचती. ये देख के मैं दिल में शर्मसार होता रहता और खुद ही आगे बढ़ के उन लोगों पे पैसा खर्च कर देता. ऐसी सूरत में वो मेरे को रोकती भी नहीं थी. शायद वो ये नहीं चाहती थी कि उन लोगों को हमारे झगड़े का पता लगे. वो लोग मस्त थे और मेरे से बहुत खुश रहते थे. मेरे से कोई चीज मांगने में या किसी काम को कहने में उनको हिचक नहीं होती थी.

सुम्मी ने बीए कर लिया तो चाईजी मेरे से कहने लगीं, "सुम्मी व्याह लायक हो गयी है, सुरिंदर, इसके वास्ते भी कोई अपने जैसा लड़का देख, जो दहेज वगैरह ना मांगे." मैं कहता, "चाईजी, आपके पास नोटों की क्या कमी है? शान के साथ सुम्मी का व्याह करो, आगे सतपाल की शादी में तगड़ा दहेज लेके सारी कमी पूरी कर लेना." लेकिन चाईजी को उम्मी की शादी मुफ्त में करके मजे आ चुके थे. वो क्यूं सुम्मी की शादी के लिए पैसा निकालतीं? कहने लगतीं, "सतपाल को तो अपने पैरों खड़े होने में ही अभी कई बरस लग जायेंगे, पुत्तर, फिर मेरे को भी मेरी बुड्ढी उमर गुजारनी है. पल्ले कुछ रहता है तो बेटी-बेटे भी ख्याल रखते हैं, नहीं तो कोई हाल पूछने भी नहीं आता."

खैर जी, भाईसाब, मैंने सुम्मी के वास्ते कई लड़के देखे. लेकिन मेरे जैसा मूरख कौन मिलता? आजकल दहेज कौन नहीं चाहता? फिर, बात करने वाला हुआ मैं और शादी होनी हुई चाईजी की बेटी की. लोग जानते थे, दोनों की माली हालत अच्छी है. क्यूं ना मुंह खोल के दहेज मांगते? बड़ी कोशिशों के बाद मेरे को एक लड़का मिला. करोल बाग के प्राइमरी स्कूल में टीचर था. आप जाके देख लो, बड़ा ही शरीफ बंदा है. सेहत और शकल-सूरत के लिहाज से भी माड़ा नहीं. उसका बाप सिर्फ बीस हजार लेके शादी करने को तैयार था. लेकिन उसको खुद सुम्मी ने नापसंद कर दिया. कहती है, "आप मेरी शादी एक गरीब स्कूल मास्टर के साथ कराना चाहते हो? ऐसे के साथ मेरे को नहीं करनी शादी-शदी." मैंने पूछा, "फिर कैसे के साथ करनी है?" तो बेहिचक बोली, "किसी आप जैसे के साथ!" मैंने मजाक किया, "तो कर ले ना मेरे ही साथ!" इस पर उसने मेरी तरफ देखा और शर्म से लाल हो गयी.

मजाक की बात थी और उम्मी के सामने ही हो रही थी, इसलिए मैंने सुम्मी के शरमा जाने पे गौर नहीं किया. उम्मी को कहा, "देख, अपनी बहन को समझा. ऐसा लड़का हाथ से निकल गया तो फिर नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलने वाला." सुम्मी अपनी बड़ी बहन को बहुत मानती थी. उम्मी जोर देके कह देती तो सुम्मी जरूर उसी लड़के के साथ शादी कराने को तैयार हो जाती. लेकिन उसने कहा, "सुम्मी बड़ी हो गयी है. खुद समझदार है. इसको वहीं शादी करनी चाहिए, जहां इसका जी चाहे." मैंने हंस के कहा, "तूने सुना नहीं, ये तो मेरे साथ करना चाहती है." इस पर उम्मी ने भी हंस के कहा, "तो कर ले ना, मैं मना करती हूं?" लेकिन इतना कहते ही वो सीरियस हो गयी और सामने से उठ कर चली गयी. मैंने मजाक में सुम्मी का हाथ पकड़ लिया और कहा, "बोल, वाकई करेगी?" उसने कहा, "पागल हो गये हो?" और हाथ छुड़ा के भाग गयी.

मैं ये तो नहीं कहता भाईसाब, कि वो मेरे गले पड़ गयी थी, क्यूंकि उसके वास्ते थोड़ा अट्रेक्शन तो मेरे दिल में भी था. बीए करके उसने पढ़ना छोड़ दिया था और एक तरह से मेरे ही घर आके रहने लगी थी. वो कोई सर्विस करना चाहती थी और मैं उसके लिए कोशिश कर रहा था. उस वक्त गाड़ी तो नहीं थी मेरे पास, लेकिन स्कूटर था और स्कूटर पे बिठा के मैं उसको कभी कोई रिटन टेस्ट दिलाने ले जाता, कभी इंटरव्यू दिलाने. शापिंग वगैरह भी मैं और वो साथ जाके कर आते थे, क्यूंकि उम्मी ने तो मेरे साथ बाहर निकलना ही बंद कर रक्खा था. यहां तक कि दोस्तों के यहां पार्टी-शार्टी होती, तब भी वो मेरे साथ ना निकलती. एक-दो बार मैं जिद्द करके उसको ले भी गया तो उसने मेरी बड़ी कच्ची करायी. एक तो भाईसाब, तीन बच्चों के बाद उसकी बॉडी यूं ही कुडौल हो गयी थी, दूसरे वो मेहनत बहुत ज्यादा और अपनी केयर बहुत कम करती थी. फैशन और मेकअप से तो वास्ता ही रखना उसने बंद कर दिया था. ऊपर से उसका वो आदर्शवादी पागलपन बड़ी दिक्कत पैदा करता था. दिल से वो खुद को गरीब मानती थी और पैसे वालों को नीची नजर से देखती थी, इसलिए कहीं भी झगड़ा कर बैठती थी. इंग्लिश बोलने वाली लेडीज के साथ तो अक्सर उसका झगड़ा हो जाता था, क्यूंकि खुद उसको इंग्लिश बोलना आता नहीं था और दूसरों का बोलना बरदाश्त नहीं कर पाती थी. इसके उल्ट सुम्मी बिल्कुल माडरन, शान से इंग्लिश बोलने वाली, बड़ी ही स्वीट नेचर वाली. बाहर उसको मेरे साथ देख के लोग रश्क करते थे. मिलने वाले एकदम इंप्रेस्ड हो जाते थे. ऐसी हालत में भाईसाब, किसके दिल में ये ख्याल नहीं आयेगा कि काश, यही अपनी बीवी होती!

उस दिन वो जो शादी वाली बात हुई, उसके बाद मेरे को महसूस हुआ कि सुम्मी भी मेरे को चाहती है. फिर तो भाईसाब, झूठ नहीं बोलूंगा, मैंने सुम्मी की शादी कराने का ख्याल छोड़ दिया. दौड़-भाग करके उसको जॉब दिला दी और कह दिया, "तू मस्त रह, मैं सब संभाल लूंगा." लेकिन आप जिसकी कहो, मैं उसी की कसम खा जाऊं, सुम्मी के साथ प्यार करने का मतलब ये हरगिज नहीं था कि मेरे को उम्मी से कोई वैर था, या मैं उसको नफरत करता था. मर्डर का तो सवाल ही नहीं उठता, मेरे दिल में तो उसको छोड़ देने का भी ख्याल कभी नहीं आया. दूसरी शादी के लिए पहली वाइफ का मर्डर वो लोग करते हैं, जिनको दूसरी शादी से दहेज वगैरह की उम्मीद होती है. सुम्मी से शादी करके मेरे को क्या मिलने वाला था? मेरा आइडिया तो ये था कि दोनों सगी बहनें हैं, मेरे साथ एडजस्ट कर जायेंगी. एक मकान में नहीं रह सकेंगी तो मैं सुम्मी के वास्ते अलग मकान ले दूंगा. बाकी इस चीज को नैतिकता के ख्याल से तो मैं देखता नहीं भाईसाब, क्यूंकि जेब में पैसा और जिस्म में ताकत हो तो इंसान दो ही क्या, कितनी ही बीवियां रख सकता है. पहले के लोग भी रखते थे, आज भी रखते हैं. दिल्ली में आप जितने कहो, उतने लोग मैं आपको दिखा दूं, जिन्होंने एक बीवी के होते-सोते इस तरह के चक्कर चलाये हुए हैं. उनकी बीवियां भी ऐतराज नहीं करतीं.

लेकिन उम्मी के ख्यालात भाईसाब, बहुत पिछड़े हुए थे. ज्यूंही उसको सुम्मी के साथ मेरे अफेयर का पता लगा, वो दीन-हीन नौकरानी जैसी बनी रहने वाली औरत मेरी और मेरे घर की मालकिन की तरह

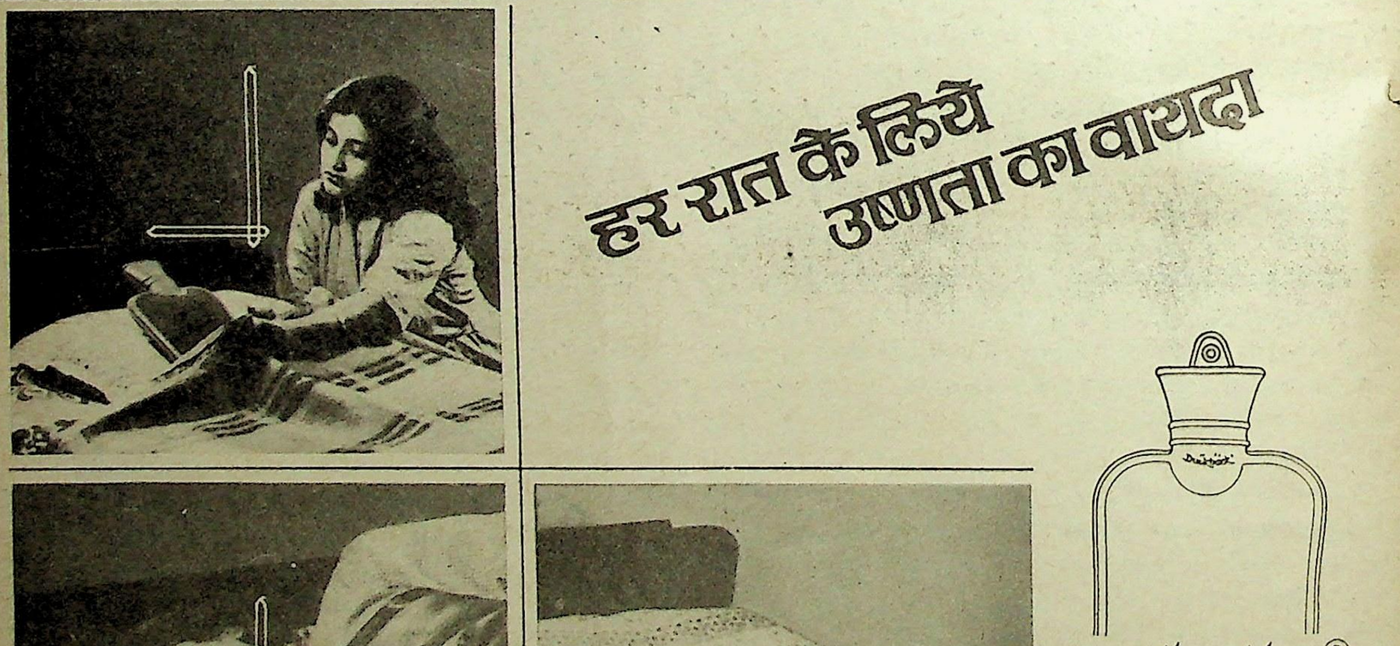

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेश आने लगी. नैतिकता की दुहाई देने लगी. बच्चों पर खराब असर पड़ने की बात करने लगी. एक दिन तो वो मेरे से इतना लड़ी कि उसने मेरे को कुत्ता-कमीना सब कुछ कह डाला. सुम्मी को भी जी भर के कोसने दे डाले.

मैंने उसको कहा, "आज तू मेरे को कुत्ता-कमीना कह रही है, वो दिन याद कर, जब मैं एक मेहनती और ईमानदार आदमी हुआ करता था. लोग मेरी इज्जत करते थे. मैं गरीब था, लेकिन सिर उठा के चलता था. तेरे को नैतिकता का ख्याल उस वक्त क्यूं नहीं आया, जब तू खर्चे बढ़ाती जाती थी और मेरे को गलत तरीकों से पैसा कमाने के वास्ते मजबूर करती जाती थी? आज तू अपनी बहन को भी कोसने दे रही है. ये कोसने उस वक्त देने चाहिए थे, जब इसने एक अच्छे-भले इंसान को गरीब स्कूल मास्टर कह के रिजेक्ट किया था. जब इसने कहा था कि इसको मेरे जैसा ही बंदा चाहिए, तू इस पे गुस्सा करने की बजाय खुश हुई थी. क्या पता, इसके दिल में उसी दिन ये ख्याल आया हो कि इसको मेरे जैसा ही बंदा चाहिए तो मैं ही क्यूं नहीं? आग लगाने वाली तो तू खुद है. मैंने समझाया, चाईजी ने समझाया, सुम्मी-सतपाल की जिम्मेवारी अपने सिर लेके इनकी आदतें ना खराब कर, लेकिन तूने किसी की नहीं सुनी. तू समझती थी कि भाई-बहन को प्यार दे रही है, लेकिन तेरे भाई-बहन तेरे से ज्यादा समझदार हैं. वो जानते थे कि तेरे प्यार का शौक मेरे पैसे से पूरा हो रहा है, इसलिए वो डाइरेक्ट मेरे से ही प्यार करने लग गये. सुम्मी का हाल तो तू देख ही रही है, सतपाल भी मेरी इतनी इज्जत करता है कि मेरे एक इशारे पे वो अपनी मां का भी मर्डर करके आ सकता है!"

उम्मी के मरने के बाद चाईजी ने भी बड़ा रौला पाया. लेकिन भाईसाब, उस वक्त चाईजी भी कुछ नहीं बोलती थीं, जब सुम्मी हफ्तों और महीनों हमारे यहां पड़ी रहती थी. उस वक्त वो सोचती होंगी, 'चलो, अच्छा है, सुम्मी सुरिंदर की आंखों के आगे रहेगी तो वो इसको जॉब जल्दी दिला देगा. शादी के लिए लड़का देखने का भी ख्याल करेगा.' आप कुछ भी कहो, मेरे को लगता है, उम्मी की मौत के लिए चाईजी भी कम कसूरवार नहीं हैं. उनको अपने पैसे से इतना प्यार ना होता तो मेरे साथ सुम्मी का अफेयर शुरू हो जाने के बाद भी उसकी शादी किसी और के साथ हो गयी होती.

हुआ ये भाईसाब, कि मेरे से लड़ने के बाद उम्मी चाईजी के पास गयी. जाके उनको कहा, "चाईजी, मैंने अपनी शादी में आपका एक पैसा खर्च नहीं कराया. मैंने यही सोचा था कि वो पैसा सुम्मी और सतपाल के काम आयेगा. आज मैं आपसे दहेज मांगने आयी हूं. आप मेरे को बीस हजार रुपये दे दो. करोल बाग वाला वो लड़का बहुत अच्छा है और उसका बाप सिर्फ बीस हजार रुपये मांग रहा है." लेकिन चाईजी को तो सुम्मी की शादी मुफ्त में ही करनी थी. उन्होंने उम्मी को कहा, "तू इतने पैसे वाली है, बहन की शादी में तू ही बीस-तीस हजार लगा देगी तो तेरे को क्या फरक पड़ेगा?"

उम्मी, भाईसाब, पागल ना होती तो अब भी चाईजी का खेल समझ जाती, लेकिन वो बेवकूफ घर आके मेरे को कहती है, "उस बीस हजार मांगने वाले लड़के को बुला के कल ही सुम्मी की शादी कर दो. बीस हजार अभी तुम दे दो और मेरे को कोई नौकरी दिला दो, मैं अपनी तनखा से तुम्हारा करज चुका दूंगी."

मैंने उससे कहा, "बेवकूफी की बातें ना कर, समझदारी से काम ले. सुम्मी तेरी बहन है. तू उसको प्यार करती है, वो मेरे को प्यार करती है. तेरा कोई हक्क मारने का उसका कोई इरादा नहीं. मैं भी तेरे को घर से नहीं निकाल रहा. आराम से रह और ऐश कर."

ये सुनते ही वो मेरे आगे से उठ के चली गयी. मैंने सोचा, गुस्से में यूंही उठ गयी है. किचन में कुछ खड़कने की आवाज आयी तो मैं समझा, चा-शा बनाती होगी. वो तो जब उसके चीखने की आवाजें आने लगीं तब मैं उठ के दौड़ा. देखा तो वो जल रही थी. मैंने अपने हाथों से आग बुझाने की कोशिश की. ये दाग देखो आप, मेरे हाथ किस तरह जख्मी हो गये थे.

खैर, अब आप बच्चों की बात सुनो. मेरा ख्याल था, ये नयी नसल के नौजवान लोग हैं, सब कुछ समझते हैं. मेरा ख्याल था, ये अपनी मां की मौत से कोई सबक सीखेंगे. लेकिन ये भी, मेरे को लगता है, उम्मी वाले आदर्शवाद के जरासीम लेके पैदा हुए हैं. सुम्मी और सतपाल भी नौजवान हैं, लेकिन जमाने के साथ चलते हैं. सुम्मी मेरे साथ खुश है, सतपाल को भी मैंने अपने धंधे में लगा लिया है. ये सही है कि उसको जरा लीडरी का चस्का लग गया है और लीडरी में आजकल वो ही आगे निकलता है, जो कानून वगैरह की परवाह ना करता हो. अव्वल तो कानून कमजोर लोगों के लिए होता है, फिर लीडरान तो खुद कानून बनाने वाले हुए. कानून के भरोसे बैठे रहें तो चला चुके इतना बड़ा देश! आजकल तो भाईसाब, जिसके हाथ में हथियार है, उसी के हाथ में अधिकार है. मैंने अपने बेटे को कहा, "अमरेश, तू ये दिन-रात किताबें पढ़-पढ़ के क्यूं आंखें खराब करता रहता है? माना कि तू क्लास में अव्वल आ जाता है, इसी तरह लगा रहा तो कालेज में टाप करेगा, यूनिवर्सिटी में भी टाप

रवींद्रनाथ की कहानियां

इलाचंद्र जोशी

छोटी कहानियां रवींद्रनाथ ने अधिकतर तब लिखीं जब वह जमींदारी की देख-रेख के सिलसिले में सियालदह में रहते थे और उत्तर बंग के गांवों में और नदियों में भ्रमण और निवास करते हुए विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के संपर्क में उन्हें आना पड़ता था. उनकी अधिकांश कहानियों में प्रत्यक्ष देखे हुए पात्रों की अवतारणा हुई है और प्रत्यक्ष अनुभूत घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन हुआ है. उन स्थूल घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर जीवन के जो सूक्ष्म सत्य निहित थे, कवि की अंतर्भेदी और पारदर्शी दृष्टि में वे ठीक-ठीक उतर आये और उनकी अपूर्व सुंदर कलात्मक अभिव्यंजना उन्होंने कहानियों के माध्यम से की.

कहानियों में जीवन के सूक्ष्म भाव-सत्यों के निरूपण के लिए उन्होंने यथार्थ जीवन के स्थूल सत्यों की तनिक भी अवहेलना कभी नहीं की. यह ठीक है कि उनकी दो-चार कहानियों में फेंटेस्टिक अथवा विचित्र कल्पनात्मक तत्त्वों का समावेश हुआ है. ऐसी कहानियों में 'क्षुधित पाषाण' प्रमुख है, जिसके अंगरेजी अनुवाद (हंगरी स्टोंस) से साहित्य प्रेमी अच्छी तरह परिचित हैं, पर ऐसी कहानियों की संख्या अधिक नहीं है और उनकी अधिकांश कहानियां जीवन की ठोस यथार्थता पर आधारित हैं. अंगरेजों के प्रबल प्रताप से संतप्त उस युग में उन्होंने अंगरेज-विरोधी विकट राजनीतिक परिस्थितियों तक को अवतारणा अपनी कहानियों में की है. उदाहरण के लिए उनकी 'मेघ औ रौद्र' (बादल और धूप) शीर्षक कहानी लीजिए. इस कहानी में एक भोली बालिका और एक भोले किंतु दृढ़ चरित्र युवक के पारस्परिक निष्पाप स्नेह की कथा को दो अंगरेज पदाधिकारियों के नृशंस अत्याचार की कहानी के साथ ऐसे आश्चर्यजनक कला-कौशल से गूंथ दिया गया है कि उस घोर यथार्थमूलक वातावरण का चित्र सुस्पष्ट रूप से सामने आने लगता है. यह कहानी युग की एक विशेष परिस्थिति से संबद्ध होने पर भी उसकी अंतर्धारा में एक ऐसी भाव-वेदना प्रवाहित होती रहती है जो युग-युग के सत्य के साथ अपना संबंध सहज ही में जोड़ लेती है. यही बात रवींद्रनाथ की बहुत-सी दूसरी कहानियों के संबंध में कही जा सकती है. □

('विश्वकवि : रवींद्रनाथ ठाकुर' से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

जीवन पर सही रचना

▣ भीष्म सहानी

मैं समझता हूं कि लेखक की विशिष्ट दृष्टि साहित्य-रचना का महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य तत्त्व रहते हुए भी वह दृष्टि पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है. यह सच है कि लेखक एक तरह से यथार्थ का सृष्टा भी है, क्योंकि वह यथार्थ को रूप देता है, जीवन में से उठाये गये कच्चे माल को वह कला में ढालता है और उसे अपनी परिकल्पना के अनुरूप ही ढालता है. लेकिन फिर भी यथार्थ के नाते लेखक पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है. मैं यह नहीं कह सकता कि लेखक की दृष्टि यथार्थ की सृष्टि करती है, इसलिए वही यथार्थ सच्चा यथार्थ है. लेखक के अपनी रचनाधर्मिता में स्वतंत्र रहते हुए भी उसकी रचना का यथार्थ जीवन के यथार्थ से अलग नहीं हो सकता, बल्कि उस द्वारा परखा जाता है. लेखक किसी नये यथार्थ की सृष्टि नहीं करता, वह जीवन के यथार्थ को व्यक्त करता है और उसे कला का रूप देता है. जब हम किसी रचना के बारे में कहते हैं कि उसमें जीवन का दृश्य प्रामाणिक है तो हमारा यही मतलब होता है कि लेखक ने जो कुछ जीवन में देखा, वह जीवन के वस्तुपरक यथार्थ के अनुरूप है. रचना जीवन पर सही बैठती है. जब शास्त्रकारों ने 'सत्यं शिवं सुंदरम' का सूत्र प्रस्तुत किया तो मैं समझता हूं, उनकी सत्य की परिकल्पना जीवन के वस्तुपरक यथार्थ की ही थी. यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक लेखक का अपना यथार्थ और अपना सत्य होगा. पर लेखक मनमानी नहीं कर सकता. अपनी निजी मान्यताओं के आधार पर बड़ी से बड़ी रचना भी कर ले तो भी जब तक वह जीवन के वस्तुपरक यथार्थ पर खरी नहीं उतरती, हम उसे प्रामाणिक अथवा यथार्थ की संज्ञा नहीं देंगे. □

(संदर्भ : 'साहित्य में यथार्थ')

कर लेगा, लेकिन इतनी मेहनत करने का फायदा क्या है? आगे चल के सर्विस तो तेरे को करनी नहीं, मेरा बिजनस ही संभालना है. मस्त रह. अपने मामा को ही देख, वो कितना पढ़ा है? फिर भी देखना, वो बड़ा लीडर बनेगा. युवा नेता तो बन ही गया है."

लेकिन मेरा बेटा तो अपनी मां की तरह उल्टी खोपड़ी वाला है ना! बेटा ही क्या, बेटियां भी वैसी ही निकल रही हैं. मेरे तीनों बच्चे मेरे से नफरत करते हैं, सुम्मी से नफरत करते हैं, सतपाल से नफरत करते हैं. मेरे को मर्डरर कहते हैं, सुम्मी को बदचलन कहते हैं, सतपाल की तो वो सूरत देखना नहीं चाहते. उसको गुंडा, बदमाश और ना जाने क्या-क्या कहते हैं.

आप कहोगे, मैं सतपाल का किस्सा बीच में क्यूं ला रहा हूं? वो मैं इसलिए ला रहा हूं कि मेरे बच्चे ये समझते हैं कि मैंने सतपाल के हाथों उनकी मां का मर्डर कराया है. भाईसाब, आप ही सोचो, कोई भाई अपनी सगी बहन का मर्डर कर सकता है? वो भी उस बहन का, जो जीते जी उसके लिए जान देती रही हो? लेकिन वो कहते हैं कि जिस रात उनकी मां मरी, सतपाल मेरे घर में ही था और उन्होंने अपनी आंखों से देखा कि उसने शाम को मेरे साथ बैठ के शराब पी थी. बताओ आप, शराब पीना कोई जुर्म है? सतपाल तो अक्सर मेरे साथ बैठ के पीता था, उस रोज कोई नयी बात हो गयी थी? और जिस वक्त उम्मी ने सुइसाइड किया, सतपाल तो कभी का वहां से खाना-वाना खाके जा चुका था. मैं हजार तरह से समझा चुका, लेकिन मेरे बच्चों ने एक कहानी बना ली है और उसको हर जगह सुना के ये कहते फिरते हैं कि उनकी मां मरी नहीं, उसको मारा गया है.

वो तो पुलिस तक भी पहुंच गये थे. मेरे पास पैसा और सतपाल का रसूख ना होता तो भाईसाब, हम लोगों को हथकड़ियां पड़ जानी थीं. ऐसे मेरे कट्टर दुश्मन हो गये हैं मेरे बच्चे. पुलिस से कुछ नहीं करा सके तो अब घर-घर जाके मेरे खिलाफ प्रोपेगंडा कर रहे हैं. अब देखो ना, कल आपके पास भी पहुंच गये. घर में तो मेरा हाल बेहाल कर रक्खा है उन्होंने. पिक्चरों में क्या डायलाग होते होंगे, जो मेरी बेटियां मेरे से बोलती हैं! डायलाग राइटर का तो मेरे को नहीं पता, पर डाइरेक्टर का पता है. वो हैं हमारे सुपुत्र श्रीमान अमरेश कुमार! लीडर आफ दी अपोजीशन इन दी हाउस!

अभी पिछले महीने की बात है, एक दिन मैंने बड़े प्यार से उसको बुला के अपने पास बिठाया और कहा, "बेटा अमरेश कुमार, मेरे को दिख रहा है, तू भी किसी दिन बड़ा लीडर बनेगा. लेकिन एक बात सुन ले पुत्तर, अपोजीशन में आने के लिए पोजीशन को छोड़ना पड़ता है. जो तू ये सोचता है कि तेरा बाप तेरी मां का कातिल, तेरा और तेरी बहनों का दुश्मन है तो मर्द बच्चों की तरह एक काम कर. कोई काम-धंदा पकड़ ले, अलग मकान लेले और अपनी बहनों को साथ लेके चला जा. मेरी मेरे बाप से नहीं बनी थी तो मैं उसका घर छोड़ के निकल पड़ा था."

लेकिन पता है भाईसाब, उस मर्द बच्चे ने क्या किया? अगले रोज बाजार जाके नींद की इतनी सारी गोलियां ले आया और एक सुइसाइड नोट लिक्खा कि रात को हम तीनों भाई-बहन इन गोलियों को खाके हमेशा के वास्ते सो जायेंगे. लेकिन मेरे बच्चे अपनी मां की तरह बेवकूफ नहीं हैं. वो जानते हैं कि मर जाने से कुछ भी हासिल नहीं होता. उन्होंने सुइसाइड नोट को गोलियों के पैकेट से दबा के टेबल पे इस तरह रख दिया कि मेरी या सुम्मी की नजर उस पे पड़े ही पड़े. और लो जी, ड्रामा काम कर गया. मैं और सुम्मी बच्चों की अदालत में मुजरिमों की तरह पेश हुए. कान पकड़ के माफी मांगी कि बच्चो, जो जी में आये करो, हम दोनों अब तुम्हारे से कुछ नहीं कहेंगे. हम तुम्हारे मां-बाप नहीं, तुम हमारे मां-बाप हो. हम खूनी हैं, कातिल हैं, जालिम हैं, हरामजादे हैं. जूतियां निकाल के हमारे सिरों पे मारो. हम तुम्हारे गुनहगार हैं, जो चाहो सजा दे लो, पर ये सुइसाइड वाली बात आगे से कभी नहीं करना.

उस रोज के बाद मैं उनको कुछ नहीं कहता. दिल में दुखी होता हूं, रोता हूं, लेकिन चुप करके उनकी गालियां खाता रहता हूं. फिर भी जो कुछ कर सकता हूं, उनके लिए किये जा रहा हूं. सुम्मी भी रोती है. वो चाहती है, बच्चे उसको मां कहें, मां समझें. लेकिन वो जानबूझ के उसको मम्मी नहीं आंटी कहते हैं. प्यार नहीं करते, बात-बात पे जलील करते हैं. मैं टोकता हूं तो मेरे से भी लड़ते हैं. पड़ोसियों को सुना-सुना के ऊंची आवाजों में रोते हैं, रिश्तेदारों और वाकफकारों से जा-जाके शिकायतें लगाते हैं. और मजे की बात देखो आप, उस कंजूस बुड्ढी से जाके हमदर्दी जताते हैं, क्यूंकि सतपाल बड़ा होके उसको उसकी कंजूसी की सजा देने लग गया है. जवान लड़का है, उसकी अपनी जरूरतें हैं, उसको पैसा चाहिए. बुड्ढी इनकार करती है तो ठुकाई करके छीन लाता है. यूं, इसको अच्छी बात मैं भी नहीं मानता भाईसाब, लेकिन ये मां-बेटे के बीच का आपसी मामला है, मैं उसमें दखल देने क्यों जाऊं? बच्चों से भी मैं यही कहता हूं, लेकिन वो मेरी सुनते कहां हैं!

वो इतने बिगड़ गये हैं कि मेरे को डर लगने लगा है, कहीं ये ब्लैकमेलर वगैरह ना हो जायें. मगर दिक्कत भाईसाब, ये है कि आप जैसे लोगों की मॉरल सपोर्ट भी उनको ही मिलती है. दोस्त आप मेरे हो, बच्चों के तो नहीं? □

● 107 साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-3 पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-110063

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्म लेता हुआ डर

मधुकर सिंह

परिवार में पीढ़ियों के अंतराल की बात प्रायः की जाती है और इसे आधार बनाकर हिंदी में अनेक अच्छी कहानियां लिखी गयी हैं, लेकिन उस अंतराल में निपट स्वार्थी लोग कैसी धूर्ततापूर्ण भूमिका निभाते हैं, इसे बता रहे हैं 'जंगली सुअर' और 'नपुंसक' जैसे उपन्यासों के लेखक मधुकर सिंह

आंगन में घुसते ही लगता है, वस्तुतः सभी मेरी प्रतीक्षा में हैं. आश्चर्य ! बाबूजी के सिरहाने चाचा बैठे हुए हैं. मैं चुपचाप बाबूजी के पायदाने खड़ा हो जाता हूं और चेहरे की ओर नजर जाते ही फफक-फफककर रोने लगता हूं. सोचता हूं, उन्हें मुझसे कुछ कहने-सुनने की अंतिम इच्छा भी नहीं होगी क्या ? चाचा मुझे ऐसे देख रहे थे, जैसे मैं बाबूजी का सौतेला या गोद लिया हुआ लड़का था. किसी भी बाहरी आदमी को उस दृश्य से साफ-साफ लग सकता है कि चाचा ही उनके असली वारिस हैं और मैं निखट्टू और उनकी संपत्ति का नकली दावेदार हूं.

मां, पत्नी और बच्चे बैठकर दूसरे घर में रो रहे थे. संभवतः मेरा आना जानकर उनका रोना और भी तेज हो गया है. पड़ोसी भी संभवतः देर तक आंगन में भरे होंगे, क्योंकि मेरे आगमन को हादसा मानते हुए वे पुनः आंगन को भरने लगे थे. यह क्या ? चाचा की आंखों में आंसू कैसे ! तब पड़ोसियों के सामने पहले भी रोये होंगे ! अब मुझे नीचा दिखलाने और पड़ोसियों की नजर में बाबूजी के साथ अपना गहरा रागात्मक संबंध जाहिर करने के लिए फिर से डबडबाये हुए हैं. मेरा आठ वर्षीय लड़का अमित जाने कब से मेरी बगल में आकर खड़ा है. बाबूजी के एक-ब-एक मरने का कारण जानने की भीतर-भीतर मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिज्ञासा भी हो रही थी. मगर मैं चाहता हूं कि कोई स्वतः ही मुझसे धारा-प्रवाह बाबूजी की मृत्यु का ब्यौरा देता जाये. मगर मैं तो पड़ोसियों की नजर में भी उतना ही गिरा हुआ बाबूजी का लड़का हूं पड़ोसियों के बीच फुसफुसाहट से मुझे चिढ़ होती है. मैं नहीं चाहता हूं कि कोई मेरे और बाबूजी के बीच के संबंधों को लेकर कुछ चर्चा करे. तभी मेरी बड़ी लड़की सरला रो-रोकर मुझसे कहने लगती है, "बाबा खेत से घूम-घामकर रात लौटे थे, तब ठीक ही थे. दादी और मां से देर रात तक बतियाते रहे थे. मगर भोर में दादा को जगाने गयी तो मुर्दा पड़े हुए थे. उन्होंने हमसे एक दिन भी सेवा नहीं करवायी."

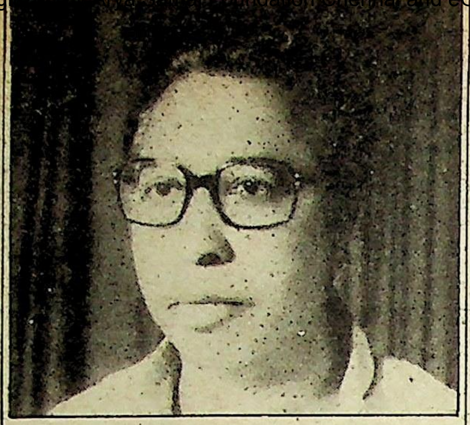
मधुकर सिंह

बाबूजी के स्वभाव को मैं अच्छी तरह जानता हूं. उतने क्रूर मिजाज के कम लोग होते हैं. छोटी-सी भी जिद् के लिए मां को पीटने लगते थे तो निखालिस जानवर लगते थे. मेरी नौकरी नहीं लगती तो इसमें मेरा क्या कसूर था? मेरी तरह के करोड़ों नौजवान मारे-मारे फिर रहे हैं. इसी उम्र में मैं चार बच्चों का बाप बन गया था और मेरी कहीं भी नौकरी नहीं थी. बाबूजी को इस बात को लेकर मुझसे चिढ़ थी. बचपन में ही मेरी शादी उन्होंने कर दी थी. फिर मैं सुअरों की तरह बच्चे जन्माने के लिए जिम्मेदार कैसे था?

बाबूजी अपनी ही तरह मुझे भी पुलिसमैन बनाना चाहते थे. पुलिस की नौकरी से मुझे चिढ़ थी. पुलिस जैसी क्रूरता जानवर में ही हो सकती है. मेरे मस्तिष्क में अभी भी बंगाल की मिदनापुर सेंट्रल जेल बार-बार कौंध जाती है. हालांकि मिदनापुर का स्मरण आते ही मैं भावुक होने लगता हूं. मां जैसा कोई अव्यक्त प्यार अपनी दोनों बांहें फैलाये मुझे पुकारने लगता है. मिदनापुर मेरी जन्मभूमि है. मुझे उसकी माटी से उतना ही प्यार है, जितना मुझे इस भोजपुर से है. बाबूजी के साथ जब से अपने देश लौटकर आया हूं, तब से फिर मिदनापुर गया नहीं हूं. मगर मिदनापुर का बचपन आज तक बिसार नहीं पा रहा हूं. मिदनापुर सेंट्रल जेल के जेलर, बाबूजी की छवि उनकी मृत्यु के बाद भी बड़ी भयावह है. सन् बयालिस के सुराजियों की चीख आज भी मेरे कानों में गूंजती है. बाबूजी की बेंत की सनसनाहट अभी तक मेरे कानों में गूंजती रहती है. वही सनसनाहट अब मेरे भोजपुर के गांवों में बंदूक की तड़तड़ाहट में बदल गयी है. आजादी के इतने वर्षों के बावजूद उन सुराजियों की जंग अभी भी जारी है.

ऐसी ही पुलिस की क्रूर नौकरी से इन्कार करना मेरे लिए काल बन गया था. रिटायर होने के बाद बाबूजी मुझे पुलिस में बहाल करा देना चाहते थे. एक बार घर के गलियारे में मुझमें और बाबूजी में जमकर मार-पीट भी हुई थी. तभी से बाप-बेटे में बोलचाल बंद! यह स्थिति उनकी मृत्यु तक बरकरार रही है. इसी का अफसोस मेरे मन से नहीं जा पा रहा है. बाबूजी और मेरे बीच जो दो पीढ़ियों का संघर्ष था, वह उनकी मृत्यु पर्यंत जिंदा रहा है.

पाठको! इसी का किस्सा मैं आपको सुनाता हूं. गांव के लोग ही नहीं, चाचा भी बराबर बाबूजी को मेरे खिलाफ तैयार रखते थे. पत्नी और मां ने अपने कानों से बाबूजी को चाचा द्वारा उकसाते सुन लिया था, "भइया! आपका लौंडा हरामी जन्मा है. आपकी जमीन-जायदाद बेचकर खा जायेगा." बाबूजी ने जवाब दिया था, "सब कुछ बेटी के नाम कर दूंगा. तब साला खायेगा क्या—ठेंगा?" हां, एक बात तो आपको बताना भूल ही रहा था. गांव-जवार के लोग भी उनके रिटायरमेंट के बाद भी उन्हें जेलर साहेब या जेलर भइया ही कहते थे. घर पर बाबूजी शुद्ध खेतिहर बन गये थे. एक आदमी रखकर खेती-बारी का काम संभालते थे. पेंशन के रुपये जबानी सूद पर चला देते थे और कहा करते थे, "घर में जब रुपये-पैसे होंगे ही नहीं, तब साला आवारा लेगा कहां से?" मेरे प्रिय पाठको! बाबूजी ने मुझे और मेरे बच्चों को तरसा-तरसाकर मारा है. मैट्रिक में पढ़ता था और मैं खुद बाप कहलाने लगा था. दो बापों के संघर्ष की शुरुआत तभी से थी. यह बात भी सही है कि शुरू-शुरू में मेरे परिवार के लिए उनकी नौकरी के सिवा दूसरा कोई आधार नहीं था. जो भी दो-तीन एकड़ जमीन थी, उसे मेरे दादा ने गांजा पीने में गांव के अमीर-साहूकारों के यहां गिरवी रख दी थी और मिदनापुर जिले में एक माड़वारी के यहां नौकरी करने लगे थे. बाबूजी ऊबकर कलकत्ता भाग गये थे। अठारह साल की उम्र में ही जेल-पुलिस के रूप में उनकी बहाली हो गयी. तभी मां की तकलीफें दूर होने लगी थीं. मेरा जन्म हो चुका था और दादा का बिखराया हुआ परिवार धीरे-धीरे सरकने लगा था. छत्तीस-सैंतीस साल की नौकरी में बाबूजी ने बहुत कुछ कर लिया था. घर नहीं था. घर बन गया. जमीनें छुड़ा लीं. तीनों एकड़ जमीन उन्हें वापस मिल गयी.

बाबूजी की इसी जमीन-जायदाद पर चाचा की आंखें कल भी थीं, आज भी हैं. उनकी आज की इस ममता और क्रूरता में अंतर ही क्या है. दोनों का उनके लिए बुनियादी मतलब तो एक ही है. तभी मैं देखता हूं कि चाचा जाने कब से वहां उठकर मुर्दा पड़े बाबूजी के सिरहाने कुछ टटोल रहे हैं. उनकी आंखें जब मुझसे मिलती हैं तो कुछ झेंप से जाते हैं. वे मां के पास आ जाते हैं और बड़ी कृत्रिम सहानुभूति जताते हुए पूछते हैं, "भौजी!"

"क्या हुआ बबुआ?" फफकती हुई मां कहती है.

"भैया ने तुम्हें और भी कुछ बतलाया है?"

"आधी रात तक घर-गृहस्थी के बारे में बतियाते रहे थे. इस साल धान की फसल देखकर बहुत खुश थे. अब कौन मुझसे अच्छी-अच्छी बातें बतियायेगा हो, बबुआ!" मां गला फाड़-फाड़कर पुनः रोना शुरू कर देती है. पत्नी तभी धीरे-धीरे मां के स्वर में स्वर मिलाने लगती है. यहां तक कि मेरी भी आंखें डबडबाने लगती हैं और मैं भी पुनः रोने लगता हूं. ऐसी स्थिति में चाचा के दिमाग में दूसरी ही बात काम कर रही है. पता नहीं, वे मेरे घर में घुसकर क्या ढूंढ़ रहे हैं. मैं हैरान हूं कि तभी चाचा की आवाज सबों के हाय-तोबा के बीच भी जोरों से सुनाई पड़ती है, "सुबह से ही रोने-धोने का काम चल रहा है भौजी. अब दुनियादारी का भी खयाल रखना है. अब भइया की मिट्टी-मंजिल का भी काम होगा या नहीं?"

मां कुछ भी सुन नहीं पाती है. मैं चुपचाप उठकर चाचा के पास आ जाता हूं और सिसकते हुए पूछता हूं, "क्या बात है चाचा?"

"भइया ने कहीं छिपाकर रुपये-पैसे भी रखे हैं?"

"मुझे कुछ भी नहीं मालूम."

"घर-द्वार तुम्हारा, फिर किसे मालूम रहेगा."

मैं हक्का-बक्का रह गया हूं. पूछता हूं, "कोई खास बात है?"

"यह लो?" चाचा चीखते हैं, "यह आवारा पूछता है कि कोई खास बात है. अरे, भइया की अर्थी भी उठेगी या इन्हें यहीं पर सड़ाओगे?"

"कितने रुपये की जरूरत पड़ेगी?"

"कम से कम पांच सौ रुपये."

"पांच सौ रुपये!" मैं उन्हें आंखें फाड़-फाड़कर देखने लगता हूं.

"तब और क्या? लाश को गंगा-घाट ले जाओगे कि नहीं?"

"ले जाऊंगा."

"जो तुम्हारे बाप की अर्थी के साथ जायेंगे, वे खायेंगे-पियेंगे कि नहीं? गंगा नदी यहां से पूरे पांच कोस है."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तब!" मैं घबड़ा जाता हूं.

"पैदल कोई नहीं जायेगा."

"तब क्या करना होगा मुझे?"

"ट्रक! ट्रक में दो सौ रुपये. दो सौ रुपये की पूड़ी-जलेबी लोग दाह-संस्कार के बाद खायेंगे-पियेंगे कि नहीं? कम से कम सौ रुपये विधि-विधान के लिए भी रख लो."

बात तो चाचा ने ठीक ही कही है, मगर उनके मुंह से ये सारी बातें मुझे अच्छी नहीं लग रही हैं. कहता हूं, "लोगों को खिलाना-पिलाना जरूरी है?"

"एकदम जरूरी है. तुम्हारे बाप ने इनके बाप की मिट्टी-मंजिल में पूड़ी-जलेबी ठूंस-ठूंसकर खायी है, तब तुम खिलाओगे नहीं?"

मैं चुप हो जाता हूं, मगर पूछता हूं, "आपने बाबूजी से सात सौ रुपये कर्ज लिये थे चाचा?"

"कब?"

"आज से ठीक चार दिन पहले. जब तुम बैल खरीदने मेला जा रहे थे."

"जब मइया से तुम्हारी बोलचाल नहीं है तो तुम्हें मालूम कैसे हो गया?"

"मां ने मुझे बताया था."

"एकदम झूठ बात है. अगर ऐसा अवसर नहीं होता तो राख लगाकर तुम्हारी जबान खींच लेता?"

मैं डर जाता हूं, मगर चाचा इस अवसर पर कुहराम मचा देते हैं, "सुन लो मौजी, सुन लो? तुम्हारा निखट्टू बेटा मुझ पर कर्जखोरी का दोष लगा रहा है. सुन रही हो कि नहीं? मैं ऐसी बातें बर्दाश्त नहीं करता. मैं अभी गांव के लोगों को बुलाता हूं."

जैसे सांप ने सूंघ लिया हो. सभी का रोना-पीटना हठात् बंद हो जाता है. मां सिसकती हुई चाचा के निकट आ जाती है, "झूठ बात नहीं है मइया, रात ही इसके बाबूजी बता रहे थे."

"यह सरासर झूठ है मौजी! एकदम झूठ है? इन्होंने किसके सामने मुझे रुपये दिये थे?"

"यह मुझे मालूम नहीं है."

"गांठ बांध लो मौजी? इस झूठ के लिए भगवान तुम लोगों को कभी माफ नहीं करेगा. मइया की तरह तुम्हारे भी प्राण तड़प-तड़पकर निकलेंगे? मैं तुम्हारी जैसी मौजी की लाश को कभी भी अपना पवित्र कंधा नहीं लगाऊंगा. मैं अभी टोला-पड़ोस के बड़े-बुजुर्गों को इकट्ठा करता हूं?"

चाचा दनदनाते हुए मेरे घर से निकल जाते हैं. खासतौर से मां को, पत्नी को और मुझे, चाचा का आतंक सताने लगता है. चाचा मेरे और मां के विरुद्ध पंचायती के लिए पड़ोस के लोगों के पास गये हैं और मैं बाबूजी के दाह-संस्कार के लिए पड़ोसियों का दरवाजा खटखटा रहा हूं. □

● बरहरा, आरा—802301 (बिहार)

इस वक्त मालेराव

. . . पृष्ठ २६ से जारी

उजागर हो गयी. उसे लगा, अब तो बहुत देर हो गयी है, अब कुछ नहीं हो सकता. तो एक ओर यह अनुभूति कि वह बदल चुका है और पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहता; और दूसरी ओर यह सुन्न कर देने वाला एहसास कि अब सब कुछ पीछे छूट चुका है, उसका भविष्य भी—इन दो विपरीत भावनाओं के बीच उसने ऐसे हिचकोले खाये कि उसकी तबीयत खराब हो गयी. और जब यह द्वंद्व अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा तो उसकी सहनशक्ति जवाब दे गयी और वह बेहोश हो गया. जी हां, बीमारी का भी एक इतिहास जरूर था, पर उसका सीधा संबंध उसके मगज की गड़बड़ी से था—उसके स्नायुजाल से. आप चाहे जो भी सोचें-कहें, मैं तो यहां तक मानता हूं कि आदमी अपना रोग भी खुद ही चुनता है. जी हां, अपने अनजाने ही.

आइए, अब हम मालेराव की एक आखिरी झलक देख लें. वह डॉक्टर के पास जा ही रहा है आखिरकार. माया आखिर नहीं मानी—उसने कोंच-कोंच के उसे भेज ही दिया. मालेराव की चाल देखिए. लगता नहीं, उसे कोई जबरदस्ती पीछे से ठेल रहा है? उसका मन बिलकुल नहीं था. उसे भीतर से यकीन नहीं, उसकी बीमारी का कोई इलाज है. उसे इस डॉक्टर से नफरत है. उसे हर डॉक्टर से नफरत है. डॉक्टरों से ही क्यों, उसे हर उस पेशे से नफरत है जो उसकी समझ में नहीं आते और जो उसे अजीब और डरावने लगते हैं. मैंने उससे एक दिन कहा भी था कि तुम्हारे लिए तो एक तुम्हारे संगीत को छोड़ और हर विद्या ठगविद्या है. वह मुस्कराया था, कुछ इस भाव से कि क्या इसमें भी कोई शक है ? मैं मालेराव की चाल-ढाल अच्छी तरह पहचानता हूं. आखिर मैं उसका तबलची हूं, संगतकार हूं. मेरे बिना तो उसकी महफिल क्या, उसका स्वांतःसुखाय भी नहीं चल सकता.

मालेराव की चाल ही बता रही है कि डॉक्टर से मिलना अब नहीं होगा. साढ़े नौ बजा दिये हैं. सारे मरीज निबट गये होंगे. अफसोस कि डॉक्टर के बरामदे में अभी भी पांच-छह लोग जमे हुए हैं और खुले दरवाजे के भीतर दीख रही है एक बार-बार हाथ जोड़कर माथे से लगाती हुई पगली भिखारिन जैसी औरत, और उसकी बगल में खड़ा एक निहायत चीकट देहाती, जो अपनी कमर में बंधी धोती की गांठ खोल रहा है. कहीं यह भी एक चलचित्र ही तो नहीं! मालेराव आंख मल रहे हैं. उन्हें याद आता है, जब कोई पांच बजे के करीब वे अपना नंबर कार्ड लेने आये थे तो उस वक्त भी ये लोग बरामदे में बैठे थे. हां, और सारे लोग तो कुर्सियों और बेंचों पर बैठे थे, पर यही दोनों जमीन पर देहरी की सीढ़ियों के पास बैठे थे. . . देहरी पर खड़े मालेराव ने अपना कार्ड डॉक्टर को थमा दिया है और. . .'आ जाइए' भी सुन लिया है. पर वह देहरी पर ही खड़ा है और गौर से उस चीकट आदमी को देख रहा है. आदमी का चेहरा मालेराव को अपने बाप के चेहरे जैसा क्यों लगने लगा है?. . . "जल्दी करो." डाक्टर कह रहा है. . . "कतने चाही माई बाप!". . . . "पचीस रुपये." गांठ कांपती उंगलियों ने खोल ली है. उसमें से झांक रहा है एक मैला-कुचैला दस का और एक पांच का नोट. "जल्दी करो. . . ." डॉक्टर चीख रहा है, आदमी कांप रहा है, औरत बार-बार पगली भिखारिन की तरह जुड़े हाथों को माथे से छुला रही है. मालेराव का हाथ अपनी जेब में घुसकर एक दस का नोट निकालता है और उस कांपते हाथ से जुड़कर डॉक्टर के आगे फैल जाता है. "रखिए आप. . ." डाक्टर मालेराव को उसका नोट वापस कर देता है. . . . "अस्पताल क्यूं नहीं जाते, जब फीस नहीं दे सकते?"

"माई बाप! माई बाप!" कहता हुआ वह आदमी अपनी औरत की बांह थामे देहरी उतर रहा है.

"आइए आप. . ." डाक्टर मालेराव, हां मालेराव से ही कह रहा है. मगर मालेराव कमरे के भीतर जाने की बजाय बाहर को जा रहे हैं और जल्दी-जल्दी लॉन पार करके सड़क पर निकल आये हैं. अपने घर की ओर बढ़ते हुए मालेराव इस वक्त न तो मरीज हैं, न जीनियस और न चलचित्र. पता नहीं, इस वक्त वे क्या हैं. शायद उन्हें माया का चेहरा दीख रहा है, जिसका सामना उन्हें अभी करना है. शायद वे उस सवाल का जवाब गढ़ रहे हैं, जो माया उनसे पूछेगी. □

● 3/2 प्रोफेसर्स कालोनी, भोपाल (मध्य प्रदेश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागमनी आयेगी

रमाकांत

शाम होते ही दिन भर झकझोरती तेज हवाएं किसी भारी वजन से दबकर थम जाती हैं. खेतों और खासन के जंगलों पर धीरे-धीरे बीन, ताशों और बैंड बाजों के स्वर तैरने लगते हैं.

झैयम. . . झम. . . झैयम झम
कैसे आऊं. . . कैसे आऊं. . .
झैयम. . . झैयम. . . झम.
कैसे आऊं पिया तोरे पास. . .
झैयम. . . झम.
कैसे आऊं. . .

लोग जानते हैं, ये स्वर खजूरी गांव के पास की भंगी बस्ती से आते हैं. भागमनी के आदमी ने बैंड पार्टी बना ली है. वही बजा रहा है यह. शादी-ब्याह के मौकों पर कमर के सहारे बड़े-बड़े नगाड़े टांगकर वह और उसके साथी ढम-ढम करते आसमान कंपाते हैं. भागमनी मोरनी के परों की तरह दुपट्टा लहराती नाचती है. उसके लंबूतरे, आम जैसे चेहरे पर पसीने की बूंदें मोती की तरह चमकती हैं और ठुड्ढी पर गुदा गोदना डंक मारता है. . . पौडर लगा के जाओ! —कोई आवाज कसता है. नखरे से मुस्कराती है भागमनी, फिर तेजी से चक्कर लगाती है. दुपट्टा रंगीन पंखों की तरह और ऊंचे उठकर लहराने लगता है.

इस वक्त भागमनी नाच नहीं रही होगी. अपनी कटिया को सानी-दाना देती घर के दूसरे कामों में लगी होगी, पर झैयम-झम के स्वरों के साथ जैसे वही कह रही है, वह आयेगी. कोई कुछ कहे, वह आयेगी. लोगों ने रोकने की कितनी कोशिश की, पर क्या वह रुकी? जिस घर को लड़कर लिया है, क्या वहां आने से उसे कोई रोक सकता है?

शहर से बहुत दूर है यह पिछवाड़े की बस्ती. सामने दूर तक खुला मैदान है. कुछ दूर आगे घने पेड़ों की पांत उसके फैलाव को बांध लेती है. दायीं ओर ठिगने खेत पसरते हुए एक पुश्ते तक जाकर मानो ऊपर न चढ़ पाने की मजबूरी में ठिठककर छितरा गये हैं. उसके आगे है जमुना का दलदली खादर, जहां बाढ़ से उजड़े गांवों की प्रेतात्माएं दिन को भी मंडराया करती हैं.

इन्हीं गांवों के लोगों को यहां बसा दिया गया है. किसी समय पेड़ों की ओट से आठ-दस घरों के टिमटिमाते दीयों को देखकर लगता था, समय अपने अवरोध लांघकर किसी पिछली सदी में पहुंच गया है. धूप आराम से लेटी रहती और कुछ भी जैसे बीतना न चाहता.

"लोनी मिट्टी में खेत क्या उगेंगे!" कुदरती ने, जिसे जमीन की पहचान है, एक चुटकी मिट्टी जबान पर रखकर चखते हुए कहा था तब, "चारा भी कमर से ऊंचा हो जाये तो जानो."

उसी की बात ठीक निकली थी. वह अपनी जमीन किसी ईंट-भट्ठे वाले को बेचकर भैंसा जुती गाड़ी, बुग्गी चलाने लगा. चेचक-रू, सांवला, चतुर चेहरा. जैसे जिंदगी भर ईंट, मिट्टी ढोते-ढोते ही दुनिया को पूरी तरह समझ गया था. औरों ने कुछ दिनों अपनी जमीनें जोती-बोयीं, पर खेतों में हल चलाने के सिवा उनके पास कोई काम न रहता. खेत कटाई से लेकर चारा काटने और उपले पाथने तक का सारा काम औरतें ही किया करतीं. वे हुक्के गुड़गुड़ाते अपने ओसारों में सूजा-पट्टी या ताश के चौपड़ जमाते और कभी-कभी आपस में मुकद्दमेबाजी किया करते. यह हमेशा न चल सकता, इसलिए उनके लड़के-बच्चों ने अपनी बांझ जमीनों से विरक्त हो वही किया, जो कुदरती ने बहुत पहले किया था यानी जमीनें बेचकर वे दूसरे धंधे करने लगे. और धीरे-धीरे गांव की आवाजें बदल गयीं. अब बैलों के गलों में बंधी घंटियों की जगह भोर के सन्नाटे में भैंसों के दुहने के समय बाल्टियों के खड़खड़ाने का शोर गूंजता है, फिर साइकिलों से शहर जाते दूधियों के बाल्टे आपस में टकराते हुए खड़खड़ करते हैं. कहीं किसी चारा मशीन की छकछक और बाढ़-बूड़े का खतरा उठाकर जो लोग अब भी अपनी पुरानी जमीनों पर खेती करने की हिम्मत करते हैं, उनके खेतों में किराये के ट्रैक्टर चलने की घड़घड़ाहट भी सुनायी दे जाती है, और इसी के साथ धीरे-धीरे गांव से लगी एक बाजारनुमा बस्ती भी उभरने लगी है. यही भागमनी का इलाका है.

लेकिन नहीं! इसके पहले आया था छत्तर. मोटा, ठिगना, काला. सिर पर बाल सफाचट और चेहरे पर किसी समय जलने का बड़ा-सा निशान. सीधा-सादा और मेहनत से काम करने वाला, पर दो दिन आता तो तीन दिन दारू पीकर बेहोश रहता. कभी उसी ने बताया था—कई साल पहले एक मरी भैंस की रान पकाकर जी भर कलिया खाया और छककर दारू पी थी. जवान बेटे की आंखें जाती रहीं. तभी से उसका यह हाल है.

जिस दिन वह न आता, कुछ औरतें भागमनी को बुला लातीं. वह पड़ोस की एक गली में काम करती थी.

एक दिन उसने कहा, "अब मैं ना आ सकूं बाबूजी. छत्तर लड़ाई करे है, यह उसी का हल्का है."

"वह तो आता नहीं."

"तब परधानजी से लिखा-पढ़ी करा के यह हल्का मुझे दिला दो. मैं रोज आऊं हूं बाबूजी."

उसकी बात पर किसी को शक न था. हंसमुख, फुर्तीली, तीसेक साल की औरत थी वह. हरेक घर में चाची, अम्मा, मौजी का रिश्ता जोड़कर काम करने वाली. उसके बारे में नागा डालने की शिकायत किसी को न थी, पर बीच में था छत्तर का डर.

"छत्तर तुम्हारी ही बस्ती में तो रहता है."

"हां बाबूजी, मेरी फूफी का जेठ है."

"फिर क्या परेशानी है. तुम्हारा ही रिश्तेदार तो है."

"ये तो बाबूजी हल्के का सवाल है. इसमें रिश्तेदारी क्या करेगी? तुम्हीं कह देना उससे कि यहां मैं सफाई करूंगी."

"तुम्हारा रिश्तेदार है, तुम्हीं लोग फैसला क्यों नहीं कर लेते."

छत्तर कई दिनों तक नहीं आया, इसलिए उससे कुछ कहने का सवाल ही नहीं उठा. आता भी तो उससे कुछ कह न सकता. इस बीच भागमनी ही सफाई करती रही, पर एक दिन वह सफाई करके गयी भी नहीं थी कि कहीं से छत्तर आ धमका. साथ में भागमनी की फूफी और छत्तर की पतोहुएं भी थीं. फूफी ने भागमनी को डांटा और बुरी-बुरी गालियां सुनायीं. दोनों पतोहुएं उसका तसला छीनने लगीं. भागमनी भी उतनी ही ऊंची आवाज में उन्हें गालियां देने लगी. उसकी चीख-पुकार सुनकर पास की गलियों में काम करनेवाली दो देवरानियां और सास दौड़ती हुई आयीं और उनमें गुत्थमगुत्था होने लगी. तसले में भरा मैला और कूड़ा गली में बिखरता रहा.

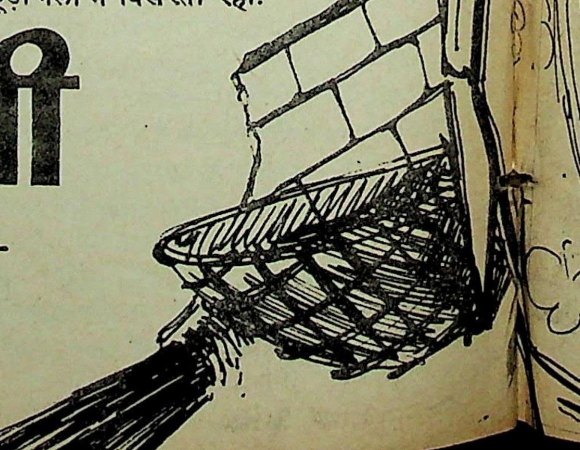

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मुझे बाबू लोगों ने कहा, तब मैं आयी." भागमनी का कहना था.

"नहीं, किसी बाबू ने नहीं कहा. मैं जानता हूं, उन्होंने मुझसे काम बंद करने को नहीं कहा." छत्तर चीखा.

हम निरुपाय थे. किसी ओर से बोलने की हिम्मत हममें नही थी. खुद मैं स्तंभित था. मैंने मनुष्य के अस्तित्व की ऐसी अधम स्थिति कभी नही देखी थी.फी घर तीन रुपये महीने पर मानव-नरक साफ करने के लिए ऐसी होड़! गांव की आवाजें कितनी ही बदल गयी हों. आदमी के अस्तित्व का आकाश ज्यों का त्यों है. वह कहीं नहीं बदला है. उसमें एक खरोंच तक शायद नहीं आयी है.

उनमें क्या फैसला हुआ, यह मैं नही जानता. छत्तर और उसके साथ आयी औरतें यह कहते हुए चली गयीं कि छत्तर नहीं आयेगा तो यह कुल्टा रांड भागमनी भी नहीं आने पायेगी. पर लगता है, भागमनी ही जीत गयी या फिर उसकी बिरादरी में ही कोई फैसला हो गया.

जवार के लोगों ने छत्तर की ही लानत-मलामत की कि खुद काम नहीं करता तो रिश्ते में फूफा होकर अपनी बेटी की रोजी में क्यों टांग अड़ाता है. भागमनी का कोई नजदीकी थाना, जेहल और अफसरों के घर की सफाई करता था. उसी ने यह फैसला दिया था. उसकी बात सब मानते थे. कुछ दिनों बाद भागमनी ने ही बताया सब. छत्तर अपना पैसा ले गया. उसके बाद फिर नहीं दिखायी दिया.

"थारे घर में ज्यादा प्रानी हैं बाबूजी, पांच रुपया लूंगी." एक दिन भागमनी ने कहा.

"पांच रुपये?"

कहा जाता है कि सृष्टि के किसी नियम के तहत छोटा जीव अपने से बड़े जीव का आहार बनता है, लेकिन भारतीय जनजीवन में देखिए कि वर्ण-व्यवस्था के शिकंजे ने एक ही जाति के लोगों को कैसी अधम स्थिति में पहुंचा दिया है? भंगी जाति के लोगों में मानव-नरक साफ करने के लिए ऐसी होड़? 'छोटे-छोटे महायुद्ध' और 'तीसरा देश' जैसे उपन्यासों के यशस्वी रचनाकार रमाकांत की ताजा रचना--

"हां, बाबूजी."

"तुम जो काम करती हो, उसे देखते हुए तो यह भी थोड़ा है."

उसने मेरी ओर ताज्जुब से देखा, फिर शक से, तब होंठों को धीरे से फैलाकर हंस पड़ी. उसे विश्वास हो गया कि मेरी बात में कोई छल नहीं था.

"ना बाबूजी, ना...जास्ती नहीं चाहिए, पांच रुपये ही लगेंगे."

"क्यों?"

"थारे पड़ोसी कहेंगे कि रेट खराब करते हो, जमादार भी पूछेगा कि बाबूजी तुमको ही जास्ती क्यों देते हैं. बताओ, क्या कहूंगी तब?" वह फिर होंठ फैलाकर हंसने लगी.

उसकी ठुड्ढी के गोदने तभी दिखायी दिये थे.

धीरे-धीरे सब बताया था उसने अपने बारे में.

जमादार छाती की किसी बीमारी का शिकार है, "कहती हूं उससे बाबूजी, कि तू फुकना बाजा न बजाया कर, पर वह मेरी सौत है. उसकी जान लेकर रहेगी. वह कभी उसे नहीं छोड़ेगा. हर साल महीने-दो महीने अस्पताल में रह आता है, फिर भी कभी अच्छा नहीं होता, और कभी अपना बाजा नहीं छोड़ता. कहते हैं उसको दूध दो, अंडा दो. दो सौ पाता है वह. सौ-एक यहां मैं कमा लेती हूं. इतने में कोई घी-दूध दिया जा सके है बाबूजी! एक कटिया पाल ली है. डेढ़-एक साल में जवान होगी, तब दूध मिल जाये तो मिल जाये."

"लेकिन तब तक?"

"तब तक क्या बाबूजी, नरक भोग लिखा है, सो भोगती हूं. दो साल हो गये हैं. उसके पास तक नहीं फटकती. कहते हैं, उसकी बीमारी तुझको भी लग जायेगी. इसका गम नहीं बाबूजी, मुझे हो जाये उसकी बीमारी और वह अच्छा हो जाये, मंजूर है, पर इससे उसी की बीमारी बढ़ जायेगी."

मैं इसके बारे में सोचना नहीं चाहता. पर सोचूं या नहीं, जीवन की गति नहीं रुकती. . . उस दिन तेज पानी बरसा था. यह शहर नहीं कि पानी बरस कर नालियों से निकल जाये. यहां कोई निकास नहीं है. दो-तीन घंटे की बारिश का पानी भी खेतों और खाली जमीनों के साथ-साथ गलियों में भर जाता है. जब तक जमीन उसे सोख न ले, यही दृश्य बना रहता है, कभी-कभी हफ्ते दस दिन तक. और बरसात के मौसम में महीनों यही हालत रहती है.

वह बरसात का पहला पानी था.

बिलों में छिपे सांप-बिच्छू निकलकर कोने-कुतरों में दुबक जाते हैं. रात को मेंढकों की टर्र-टर्र सुनायी देने लगती है. गांव के लोग इसके अभ्यस्त हैं. उनका कोई काम नहीं रुकता. औरतें मैदानों में सूखते उपलों के ढेर बचाने में जुट जाती हैं और मर्द खेतों की जुताई करने में. भागमनी का भी काम नहीं रुकता. वह एक दिन का भी नागा नहीं डालती. उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रमाकांत

दिन भी वह नहीं रुकी थी.

नाली के पास झाड़ू लगाते ही वह चीखकर पीछे गिर गयी.

कोई सांप वहां छिपा बैठा था. वह उसके पैर में लिपट गया था.

"कैसा सांप था? गेहुंगन या करैत?"

"उसने काटा या नहीं?"

"जबान ऐंठ तो नहीं रही? नशा तो नहीं छा रहा है?"

वह कुछ नहीं जानती. कुछ बता नहीं सकती. भय से या सांप काटने के जहर से वह बेहोश होती जा रही थी और मुंह से फेन आने लगा. हे भगवान! मरे न यह. थाना-कचहरी की नौबत आयेगी और समाज की नजरों में मैं पाप का भागी बनूंगा.

सुना है, सौ में नब्बे सांपों में जहर नहीं होता. खेत और पानी वाले सांपों में तो बिलकुल नहीं. लोग भय से बेहोश होते या मरते हैं. इसका प्राथमिक उपचार भी सुना-पढ़ा है. मैंने कसकर उसका पैर दबा लिया और टखने के ऊपर मजबूती से सुतली लपेट दी. फिर अंगूठे में जहां शक था कि सांप ने काटा होगा, ब्लेड से चीरा लगाकर जहरीला खून चूसकर निकाल दिया. फिर नीम की पत्तियां खिलाते ही वह थू-थू करती उठ बैठी. शायद उसे सांप ने काटा ही नहीं था या काटा हो तो उसमें जहर नहीं था. पर नहीं मानती भागमनी यह. अपने प्राणदान का कारण वह मुझे ही समझती है. वह उदास रहने लगी. आंखें जैसे हर वक्त कहीं और देखा करतीं. भीतर की किस आग में जलने लगी वह.

"तुमने क्यों किया बाबूजी यह? ... क्यों? मुझे मर ही क्यों न जाने दिया?"

"तो क्या हुआ? कोई भी होता, यही करता."

"नहीं बाबूजी, हर कोई यह न करता."

"खैर, अब भूल जा इसे."

"भूल जाऊं? तुमने मेरा पैर छुआ है, उसे मुंह लगाया है. क्या पाप नहीं पड़ेगा तुमको?"

"न करता तो बचती कैसे तू?"

"लेकिन तब मुझे नरक में क्यों ढकेल दिया. इससे कैसे उरिन करोगे मुझे? निबाह पाओगे?"

क्या इसका कोई जवाब हो सकता था?

"बोलो बाबूजी? चुप क्यों हो? क्या उरिन कर पाओगे?"

"इतना बड़ा सवाल मत पूछ भागमनी, मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं है."

वह जैसे अपनी आग में और भी जलने लगी.

पर अभी एक और सांप छिपा बैठा था. पहले से कहीं ज्यादा जहरीला.

वह आठ साल की लड़की थी और उसे देखकर मैं समझ गया कि यह भागमनी की ही लड़की होगी. कुछ छोटे बच्चों के साथ वह अगले गांव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ने जा रही थी. पता नहीं किस आदर के वशीभूत हो उसने मुझे नमस्ते की.

"नमस्ते बेटी." मैं आगे बढ़ गया. मुझे खुशी हुई कि भागमनी कम से कम अपनी बेटी को आदमी बना रही है, पर यह खुशी ज्यादा दिन नहीं टिकी. एक दिन देखा कि अपनी मां के साथ टोकरा संभाले वह भी काम पर आ लगी.

"यह तो पढ़ने जाती है न! इसे इस काम में क्यों लगा रही हो?"

"अब नहीं जाती."

"क्यों?"

"हटा लिया बाबूजी स्कूल से."

"हटा लिया? तुमने खुद हटा लिया इसे?"

"तब और क्या करती बाबूजी! हेडमास्टर साहब ने कहा कि इसका दिमाग पढ़ाई के लायक नहीं है... हम भंगी, नीच हैं बाबूजी! चौधरियों के बच्चों के साथ पढ़ने का भला इसका दिमाग है? और मैं क्या उनसे रार ले सकती हूं...!"

मेरा खून अचानक जैसे सर्द पड़ गया था.

उसे कोई सांत्वना नहीं दे सका मैं, पर एक दिन स्कूल के हेडमास्टर साहब से मिला था. भागमनी की लड़की मेरे साथ थी.

"क्या आपने कहा है कि इसका दिमाग पढ़ाई के लायक नहीं है?"

हेडमास्टर साहब ने मेरी ओर गौर से देखा. ग्रामीण वेशभूषा, लंबी मूंछें, आंखों में कड़ापन, लंबे चौड़े, दबंग शरीरवाले.

"आप इसके कौन हैं?" उन्होंने पूछा.

"यह हमारी जमादारनी की बेटी है. आपने कहा है कि इसका दिमाग पढ़ाई के लायक नहीं है."

"आप इस मामले में न पड़ें."

"क्यों?"

"क्योंकि आपकी यह कोई नहीं है."

"फिर भी आपने यह क्यों कहा कि इसका दिमाग पढ़ाई के लायक नहीं है. क्या आप मुझे अपने सभी लड़कों के दिमाग की परीक्षा का मौका देंगे."

"आप बेकार बात को बढ़ा रहे हैं. यह गांव है, शहर नहीं. गांव वालों को यह पसंद नहीं कि भंगी-चमारों के लड़के-लड़कियां उनकी बराबरी करें, पर यह कहा तो नहीं जा सकता." वे चतुराई से मुस्कराये.

"आप या तो इसे पढ़ने दें, नहीं तो मैं ऊपर शिकायत करूंगा."

उस शाम बैंड-बाजों की आवाजें सुनाई नहीं दीं. उतरती शाम के साथ एक सहमापन जैसे फैलने लगा हो. अचानक अंधेरे में बहुत से स्वरों की भयंकर चीत्कार आसपास गूंज गयी. बीच-बीच में लाठियां पड़ने की पटापट ... मानो बहुत से पिल्लों को कोई कहीं बंद कर पीट रहा हो. बच्चों, औरतों की ऊंची उठती चीखें रुकने का नाम नहीं ले रही थीं, साथ में मर्दों के दहाड़ मारकर रोने की आवाजें. गांव वालों ने भंगी बस्ती पर हमला किया था. तभी तेज विस्फोट के साथ सैकड़ों लपटें ऊपर उठने लगीं.

उन्हीं लपटों में मैंने देखा—लहू-लुहान भागमनी हांफती हुई मेरी तरफ भागती आ रही थी.

"बचाओ बाबूजी अगर बचा सको तो. नहीं तो हाथ जोड़ती हूं. यहां से चले जाओ.... हमसे निबटकर गांव वाले यहीं आ रहे हैं. अब कोई भंगी तुम्हारी बस्ती में सफाई करने नहीं आयेगा ... तुम चले जाओ. उस दिन के सांप से तुमने मुझे बचा लिया, लेकिन आज नहीं बचा पाओगे. हाथ जोड़ती हूं .. तुम चले जाओ."

वह पागलों की तरह बदहवास उन्हीं लपटों की ओर भागने लगी.

"मैं कहीं नहीं जाऊंगा भागमनी, कहीं नहीं."

वह ठिठक गयी. फिर धीरे-धीरे पास आयी.

"तब मैं भी नहीं जाती बाबू, अब बचा ही क्या है? आने दो उन्हें. आज तुम्हारे रिन से उरिन होकर रहूंगी..." ओढ़नी के बीच से निकलकर चारा काटने का गड़ांसा उसके हाथ में लपलपा उठा, "आज यहीं उरिन होऊंगी ... यहीं ..." □

● सादतपुर कालोनी, पो. गोकुलपुरी, दिल्ली-110094

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैमेरियन

धर्मेंद्र गुप्त

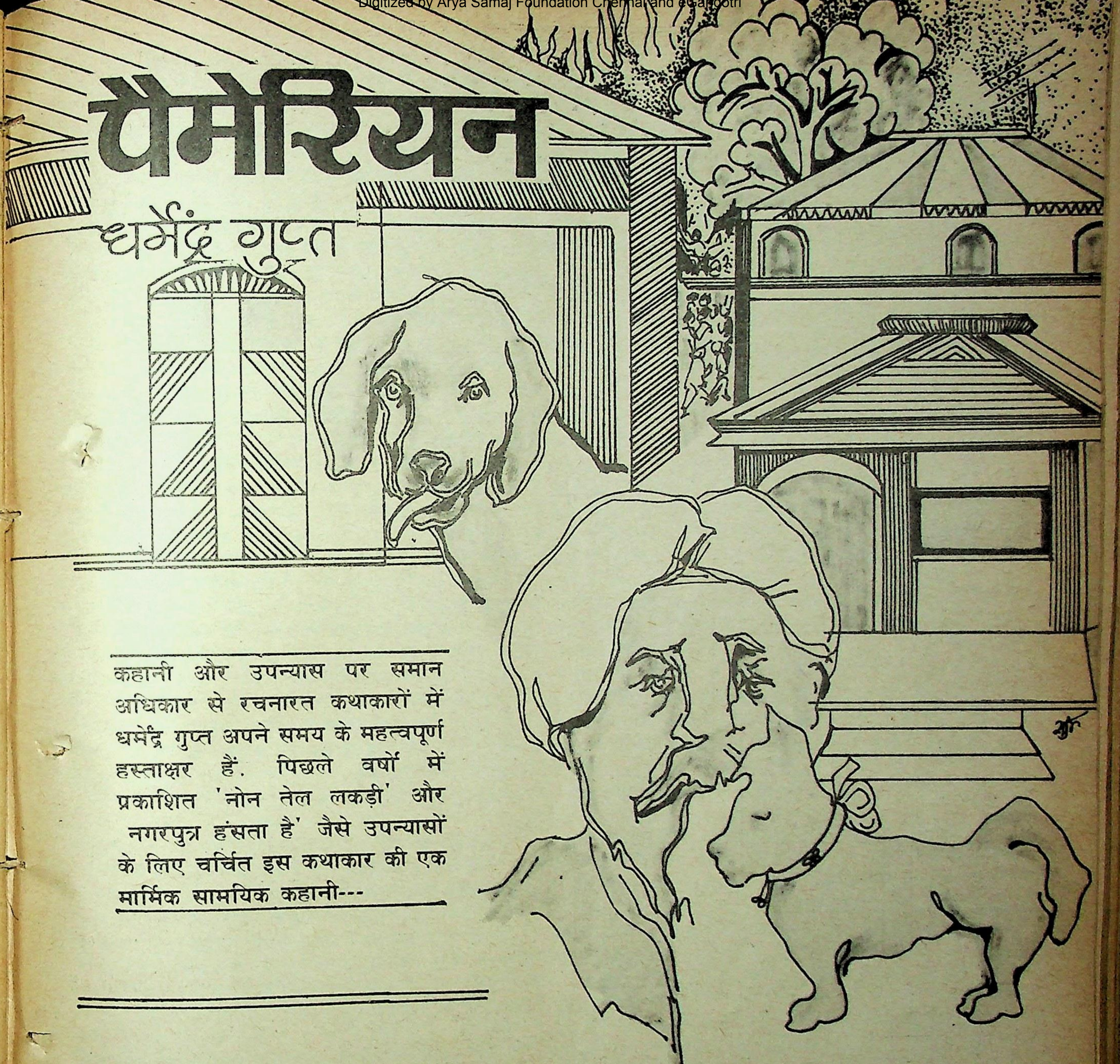

कहानी और उपन्यास पर समान अधिकार से रचनारत कथाकारों में धर्मेंद्र गुप्त अपने समय के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं. पिछले वर्षों में प्रकाशित 'नोन तेल लकड़ी' और 'नगरपुत्र हंसता है' जैसे उपन्यासों के लिए चर्चित इस कथाकार की एक मार्मिक सामयिक कहानी---

परिचय के लिए अनेक माध्यम हो सकते हैं. कुछ माध्यम तो ऐसे बन जाते हैं, जिन पर जीवन भर गर्व किया जा सकता है, किंतु परिस्थितिवश कई बार ऐसे माध्यम भी सामने आ जाते हैं, जो न केवल हास्यास्पद होते हैं, वरन आश्चर्यजनक भी कहे जा सकते हैं. मेरे और सरदार सज्जनसिंह के बीच परिचय का माध्यम बना मेरा कुत्ता जैकी. जैकी कैसे माध्यम बना, इसको बताने के लए थोड़ी भूमिका बांधनी आवश्यक है.

जैसा कि महानगर में रहने वाले हर मध्यमवर्ग के परिवार की कामना होती है कि उसका एक प्यारा-सा अपना मकान (बंगला) हो, भले ही जिसका चांदी का जंगला न हो, लेकिन देखने-सुनने में ऐसा हो कि वह आधुनिक कहे जाने की कोटि में आ जाये. इसी लालसा के वशीभूत होकर बीस वर्ष पहले हम भी एक हाउसिंग सोसाइटी के मेंबर बन गये और ख्वाब देखने लगे कि बस अपना मकान हुआ और हम राजधानी के प्रतिष्ठित नागरिक कहलायें. लेकिन सरकारी आंकड़ों के बीच झूलती हमारी हाउसिंग सोसाइटी ने उम्र के बीस वर्ष पार कर लिये, पर हमें दो गज जमीन यानी दो सौ गज का प्लाट न मिला. इस बीच सरकार की ओर से प्लाट का पूरा पैसा हम से वसूल लिया गया और बार बार हमें यह हिदायत दी गयी कि हम प्लाट मिलते ही अपना मकान बनाने के लिए तैयार रहें.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाउसिंग सोसाइटी के स्वयंभू अध्यक्ष बार-बार हमें दिलासा देते कि बस, सरकार से जमीन मिलने ही वाली है और अपनी बात की सच्चाई सिद्ध करने के लिए वे हमें सरकारी दफ्तरों तक घसीट ले जाते कि खुद चलकर देख लो, सोसाइटी ने कहां तक प्रोग्रेस की है. मगर अपनी फैलती हुई गृहस्थी और किराये के मकान में रहते हुए जो तंगी भुगतनी पड़ रही थी, उससे हमारे मन में ऐसी निराशा भर गयी कि हमें किसी बात पर विश्वास नहीं होता. इस पर पारंपरिक ढंग से पत्नी के ताने कि 'आपने जीवन में कभी कोई काम ढंग से किया भी है ? लोगों ने बीस साल में दो दो मकान बनाकर बेच भी लिये और लखपती बने घूम रहे हैं. एक आप हैं कि सिर छिपाने को एक छत का इंतजाम भी न हो सका.' इस हालत में हमारे अंदर जो हीनभावना पैदा हुई, उसकी कल्पना की जा सकती है. अपने उन साथियों के बीच हमारा उठना-बैठना भी हराम हो गया, जिनके पास अपना मकान था और जो अपने मकान को बड़ी शान से 'कोठी' कहते थे. पर खैर, हम कर ही क्या सकते थे, सिवा इसके कि 'ईश्वर' की कृपा पाने के लिए चौबीसों घंटे उसे याद करते रहें.

तभी सहसा हमें सोसाइटी के कर्ताधर्ताओं की ओर से अल्टीमेटम मिला कि सरकार ने जमीन मंजूर कर दी है और हम आकर अपने प्लाट की रजिस्ट्री करा लें.

यह सूचना ऐसी थी जैसे कई दिनों से किसी भूखे को यह पता लगे कि अमुक जगह पर मुफ्त में खाने के लिए रोटियां मिल रही हैं. हम सारा काम छोड़कर रजिस्ट्री कराने के लिए कचहरी की तरफ दौड़ पड़े. हर विघ्न बाधा को पार करके हमने अपने प्लाट की रजिस्ट्री करा डाली और इसी के साथ शुरू हो गयी हमारे जीवन में मुसीबतों की नयी कहानी.

मित्रों ने जब सुना कि हमें प्लाट मिल गया है और उसकी रजिस्ट्री भी हो गयी है तो वह सब अपने पीले सफेद दांत दिखाते हुए हंसने लगे. "प्लाट की रजिस्ट्री से क्या होता है यार, असल बात तो यह है कि प्लाट पर तुम्हारा कब्जा हो जाये. यह दिल्ली है. यहां कई घटनाएं हो चुकी हैं, जब प्लाट किसी के नाम है और उस पर मकान बनाकर कोई और रहने का सुख भोग रहा है. अगर अपना भला चाहते हो तो तुरंत प्लाट पर कब्जा करो. ज्यादा नहीं तो एक कमरा बनाकर ही रहना शुरू कर दो. कम से कम प्लाट पर कब्जा तो हो जायेगा. किराया देने से पीछा छूटेगा सो अलग."

यह एक नेक सलाह थी, जिस पर अमल करने में ही हमें लाभ दिखाई दिया.

दूसरे ही दिन ऑफिस से छुट्टी लेकर पत्नी और बच्चों के साथ हम अपना प्लाट देखने चल दिये. यह किसी दिग्विजय यात्रा से कम न था. दो बसें बदलकर तथा दो-तीन फर्लांग की पदयात्रा करते हुए जब हम अपने प्लाट पर पहुंचे तो लगा, चक्कर खाकर वहीं गिर जायेंगे.

जिस जगह हमें प्लाट मिला था, वहां कभी खेत हुआ करते थे, जिसके अवशेष अब भी मौजूद थे. हालांकि सरकारी मशीनरी ने सड़क के नाम पर कुछ काम किया था और प्लाट काटकर उसके भी निशान लगा दिये थे, लेकिन फिर भी था तो चारों ओर खुला उजड़े खेतों का माहौल. एक फर्लांग दूर पर पुरानी बस्ती थी. दायीं ओर दो फर्लांग चलने पर रिंग रोड आ जाती, जहां से बस मिल सकती थी. रिंग रोड के पास ही बसाये गये थे झुग्गी-झोंपड़ी वाले, जिनके बारे में कहा जा रहा था कि वे पेशेवर जेबकतरे और चोर हैं. इसी से मिला हुआ था पुराना गांव, जिसके जमींदारों की ही जमीनें छीनकर सरकार ने सोसाइटी को दी थीं. बायीं ओर भी कालोनी बसेगी, क्योंकि प्लाट वहां भी कटे हुए नजर आ रहे थे. पर इस सब से क्या, फिलहाल तो हम ऐसी जगह खड़े थे, जहां दोपहर में भी इक्का-दुक्का आदमी आता जाता नजर आ रहा था. अलबत्ता गांव वाले अपनी भैंसों को चराने के लिए कंधे पर लाठी रक्खे इधर-उधर घूम रहे थे. उनके भयानक चेहरे और भारी डीलडौल को देखकर हमारा दिल बैठ गया. पत्नी ने घबराकर कहा, "इस सुनसान जगह हम रहेंगे कैसे?"

"तुम तो पागल हो. मकान कोई एक दिन में बन जाता है. मकान बनने में कम से कम छः महीने लगेंगे. छः महीने में तो यहां इतनी आबादी हो जायेगी कि देखती रह जाओगी. वह देखो, हमारी तरह और भी कई फैमिली अपने प्लाट देखने के लिए आयी हुई हैं. वह सब भी जल्दी ही मकान बनायेंगी."

पत्नी को मेरी बात में सच्चाई नजर आयी, क्योंकि दो-चार परिवार इधर-उधर घूमते दिखाई दे रहे थे. एक दो से मुलाकात भी हो गयी. सभी की यही राय थी कि बढ़ती हुई महंगाई को देखते हुए जल्द से जल्द मकान बना लेना चाहिए.

किस्साकोताह यह कि छः महीने की जगह जब आठ महीने में हमने रहने लायक मकान खड़ा कर लिया तो पूरी कालोनी में कुल जमा बारह मकान बनकर तैयार हो गये थे. कुछ में लोग आकर रहने भी लगे. इन्हीं में थे सरदार सज्जनसिंह, जिनका तिमंजला मकान शान से सिर ऊंचा किये खड़ा था और जिनके पास एक पुरानी एंबेसेडर कार भी थी.

सज्जन सिंह का मकान हमारे घर से आधा फर्लांग दूरी पर था, मगर आते-जाते चूंकि उनका मकान रास्ते में पड़ता था, इसलिए रोज ही हमें बाहर से उनके रहन-सहन का तौर तरीका देखने को मिल जाता. इसमें सबसे ज्यादा जिस चीज ने हमें प्रभावित किया, वह यह कि उनके मकान के बाहर एक छोटा-सा पिल्ला रस्सी से बंधा हुआ था. घर के रखवाले के रूप में कुत्ता पालने का आइडिया हमें यहीं से प्राप्त हुआ.

सज्जनसिंह की तिमंजलि कोठी के सामने हमारा दो कमरों का मकान पिद्दी-सा दिखाई देता. इस वर्ग भेद के कारण सज्जनसिंह से बात करने का प्रश्न ही नहीं उठता था. यह बात दूसरी है कि हमने अपने चौकीदार से सज्जनसिंह के बारे में बहुत-सी जानकारी हासिल कर ली. सरदार सज्जनसिंह की सरायरोहेल्ला में लोहे का कोई छोटा-मोटा कारखाना था. पिछले पांच-सात सालों में उन्होंने व्यापार में अच्छी तरक्की की थी, वरना शुरू में तो वह मोतियाखान में पुराने जंग लगे लोहे के कबाड़ी के रूप में एक छोटी-सी दुकान के मालिक थे. पैसा आया तो पहाड़गंज के दड़बेनुमा मकान से निकल कर इस नयी कालोनी में तिमंजली कोठी बनवा डाली और साथ ही सेकेंड हैंड कार भी ले ली. सब गुरू महाराज की कृपा है.

शुरू-शुरू में ऐसी सुनसान जगह में रहते हुए बहुत डर लगा. रात को ठीक से नींद नहीं आती. चारोंओर सूनसान. एक फर्लांग दूर बस्ती में जलती लाइट से ही आबादी का आभास होता, नहीं तो चारों ओर अंधेरा छाया रहता. मन को समझाते कि भाई, अब हमारे पास रखा ही क्या है, जो चोर-डाकू लूटने आयेंगे. सब कुछ तो मकान बनवाने में लगा दिया.

"वाह जी, यह खूब कही, "पत्नी ने झाड़ पिलायी, "बच्चों की जान का तो कुछ ख्याल करो. चार आदमी घर में घुस आयें, तो क्या होगा?"

अजब समस्या थी. मकान छोड़कर अब कहीं जा नहीं सकते थे. इतनी भी सामर्थ्य नहीं बची थी कि फिर किसी आबादी में किराये का मकान लेकर रह लें. और अगर ऐसा करने का साहस भी दिखायें तो पीछे खाली मकान में कोई घुसकर कब्जा कर ले तो? नहीं... नहीं...प्राण भले ही चले जायें, मकान छोड़कर नहीं जा सकते. तभी हमारा ध्यान सरदार सज्जन सिंह की कोठी के आगे बंधे पिल्ले की ओर गया.

"वाह, क्या बात है. क्यों न हम भी एक कुत्ता पाल लें. बड़ा वफादार जानवर होता है. मालिक के लिए जान भी दे देता है. रात को घर की रखवाली करेगा और दिन में अकेले में तुम्हारा मन भी लगा रहेगा." मैंने पत्नी को समझाने की कोशिश की.

पत्नी को भी आइडिया पसंद आया. उन्होंने स्वीकृति दे दी. बच्चे बहुत खुश थे.

"चलो, नया भाई बहन न सही, खेलने को पिल्ला ही मिलेगा."

सुना था, हिंदू होने के नाते हमारे खानदान में कभी गाय पाली जाती थी. तोता पालने का रिवाज भी हमारे खानदान में रहा है, ऐसा दादा-दादी बताते थे. लेकिन कुत्ते का प्रवेश घर में पहली बार हो रहा है. कुत्ता पालना तो अंग्रेज साहब लोगों का काम है. अब कुत्ता पालकर हम भी साहब लोगों की कोटि में पहुंचने के लिए कदम बढ़ाने जा रहे थे. यह बात मन में गुदगुदी पैदा कर रही थी.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मेंद्र गुप्त

अगले दिन से ही हमने कुत्ते के बारे में समस्त जानकारियां एकत्र करनी शुरू कर दीं अलसेशियन का नाम हमने सुन रक्खा था, लेकिन अलसेशियन पालना कोई हंसी ठट्ठा नहीं है. जितना खाना हम मियां-बीवी और तीनों बच्चे मिलकर खाते हैं, उतना तो अकेला अलसेशियन ही खा जायेगा. फिर हमारे एक परिचित एक बार यह भी बता रहे थे कि उनके अधेड़ उम्र के चाचा को उनके पालतू अलसेशियन ने ऐसा धक्का मारा कि जमीन पर गिरते ही उनकी कमर की हड्डी दरक गयी. न बाबा...न. हम तो दिल्ली में बसों में धक्के खाते-खाते इतने अधमरे हो गये हैं, कि अब अलसेशियन का धक्का वर्दाश्त करना हमारे बस की बात नहीं. तय हुआ कि कोई साधारण-सा अच्छी ब्रीड का कुत्ते का बच्चा लाया जाये, पर समस्या यह थी कि अच्छे ब्रीड के कुत्ते का बच्चा मिले कहां से?

हमारे कुछ अफसर टाइप के दोस्तों को कुत्ते पालने का शौक है. यों भी अफसर के यहां अगर कुत्ता रहता है तो उससे उसकी शान दुनी हो जाती है. ऐसे मित्रों के घर जाने पर कई बार यह ऑफर मिला कि हम हाल में ही उनकी ब्याई कुतिया के बच्चों में से एक ले सकते हैं, मगर हमने हंसकर हाथ जोड़ दिये. कुत्ता पालना हमारे बस का कहां. हम खुद ही पल लें, यही बहुत है. अब हमें एक पिल्ले की जरूरत थी, सो सब जगह गुहार लगायी. लेकिन कहीं भी बात नहीं बनी. किसी की ब्या चुकी थी और उन्होंने पिल्ले बांट दिये थे. किसी ने अपनी कुतिया को परिवार नियोजन के घेरे में ले लिया था और अब उससे कोई उम्मीद नहीं की जा सकती थी. किसी की कुतिया इतनी बूढ़ी हो चुकी थी कि अब वहां से निराशा ही हाथ लगी. इसी को कहते हैं कि बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख. हम अपना-सा मुंह लेकर रह गये.

मगर कुत्ता तो अब हमारे घर में आना ही था. बढ़िया बिलायती कुत्ते का बच्चा अगर हम प्राप्त नहीं कर सकते तो देसी कुत्ता घर में लाने से हमें कौन रोक सकता था. बच्चों ने हमें सूचना दी कि थोड़ी दूर पर एक नये बन रहे मकान के चौकीदार की कुतिया ब्याई है. अगर अभी से दांव लगा लेंगे तो कुत्ते का बच्चा मिल जायेगा. हम पति-पत्नी तुरंत जाकर कुतिया के ब्याये छः बच्चों को देख आये. इनमें भूरे रंग का बच्चा हमें पसंद आया. तत्काल दो रुपये चौकीदार के हाथ पर रखकर हमने एडवांस बुकिंग कर ली और इंतजार करने लगे कि कब बच्चा चलने-फिरने लायक हो और हम अपने घर ले आयें.

किसी तरह एक सप्ताह बीता. बच्चे रोज ही नये प्राणी को घर लाने की मांग करते, पर उनको डांटकर चुप करा दिया जाता. चार दिन और बीत गये. अंत में चौकीदार खुद ही पंद्रह दिन के बच्चे को ले आया. दो रुपया चौकीदार को और इनाम में दिया गया. इस तरह इस परिवार नियोजन के युग में हमारे परिवार में एक प्राणी और बढ़ गया. बहुत बहस मुबाहिसे के बाद नये प्राणी का नामकरण संस्कार हुआ. जैकी...जैकी...करके कुत्ते के बच्चे को बुलाया जाने लगा.

हल्की सर्दी शुरू हो गयी थी. जैकी के लिए रुई की गद्दी तैयार कर दी गयी. ओढ़ने के लिए पुराने कंबल का टुकड़ा खोजा गया, लेकिन जैकीजी के नखरे इतने कि सारी रात नंगे पड़े रहते. नतीजा यह कि सर्दी ने अपना असर दिखाया और तीन महीने की उम्र में जैकीजी बीमार पड़ गये.

खोजबीन की गयी तो आसपास कोई जानवरों का डॉक्टर नजर नहीं आया. बस्ती के दो एक बुजुर्ग लोगों से राय ली तो उन्होंने गाय-भैंस के बारे में तो पूरी जानकारी दे दी, लेकिन कुत्ते के बारे में अपनी अनभिज्ञता ही जाहिर की. तब हम सीधे कैमिस्ट की दुकान पर पहुंचे. जिस दुकान पर आदमी-औरतों की दसियों बीमारियों की सुबह से शाम तक दवा बिकती है, वहां क्या कुत्ते की सर्दी की दवा नहीं मिलेगी. जरूर मिलेगी. अपने इस विश्वास के साथ हमने अपनी सारी विपदा कैमिस्ट को कह सुनाई और कैमिस्ट ने भी बड़े विश्वास के साथ हमें चार पीली टिकियां देते हुए कहा, "पानी में घोल कर पिला दो, सब ठीक हो जायेगा." लेकिन जैकी ठीक होने की बजाय और बीमार पड़ गये. अब उसने पानी पीना भी छोड़ दिया. मुंह लटका लिया जैसे प्राण निकलने ही वाले हों. घर में रोना-पीटना मच गया. पत्नी ने खाना त्याग दिया. बच्चे जैकी जैकी पुकारने लगे. जैकी के गले में से चमड़े का पट्टा खोल दिया गया. मरते हुए प्राणी को सब बंधनों से मुक्त होना चाहिए.

तभी मुझे ख्याल आया कि क्यों न सरदार सज्जन सिंह से राय ली जाये. उन्होंने भी तो कुत्ता पाल रक्खा है. जरूर वह कोई न कोई काम की दवा बता सकते हैं. इस तरह मेरा और सरदार सज्जन सिंह का परिचय हुआ, जिसका माध्यम बना 'जैकी'

सरदार सज्जन सिंह मेरी बात सुनकर हंसने लगे. वह काफी भारी बदन के थे और जब हंसते तो उनकी तोंद हिलने लगती. "ओ...चिंता न करो जी, सर्दी लग गयी है. कैमिस्ट से चिकिन सूप ले आओ. एक शीशी पिला दो, सब ठीक हो जायेगा. साडे मोती को भी सर्दी लग गयी थी. चिकिन सूप पीते ही ठीक हो गया."

मैंने देखा, उनका कुत्ता पास खड़ा पूंछ हिला रहा था. अब तक उनके कुत्ते को दूर से ही देखा था. अब पास से देखा तो बहुत अच्छा लगा. उसकी पूंछ भी उठी हुई थी और कान भी खड़े थे. रंग उसका सफेद था, जिस पर कहीं कहीं कत्थई रंग के बड़े बड़े धब्बे थे.

"यह क्या विलायती नस्ल का है." मैंने पूछा.

"ओ...नहीं जी, देसी है." सरदारजी हंसते हुए बताने लगे, "यहां जरा सूनसान है न, सो कुत्ता पाल लिया. आने-जाने वाले को भौंकता है, हम होशियार हो जाते हैं."

"है बहुत अच्छा. खुला खड़ा है, पर इधर-उधर मुंह नहीं मारता." मैंने प्रशंसा करते हुए कहा.

"सो तो है जी." सरदार सज्जन सिंह अपने कुत्ते की बड़ाई सुनकर प्रसन्न हो गये, "हमारे साथ इधर-उधर घूम लेता है, कहीं जाता नहीं. घर की रखवाली करता है."

"हमारे जैकी में यह बहुत खराबी है. एक मिनट को खुला नहीं छोड़ सकते. बर्तनों में मुंह डाल देता है. घर से बाहर निकल जाता है तो पकड़ में नहीं आता. गंदगी खाता फिरता है." हम जैकी की शिकायत पर उतर आये.

सरदार सज्जनसिंह फिर हंसने लगे. हमें लगा, जैसे वह हमें मुंह चिढ़ा रहे हों. यह भी कोई सभ्यता है. हमने जैकी की शिकायत की और उन्होंने सहानुभूति के दो शब्द भी न कहे. खैर, अगर हमारे जैकी में कमियां न होतीं तो हम उसकी शिकायत करते ही क्यों.

"जैकी को दवा पिलाना बहुत मुश्किल काम है. पकड़ते ही काटने को मुंह मारता है."

"आप जी डरते हो." सरदार सज्जनसिंह ने कहा. फिर ऊपर की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुंह उठाकर अपने नौकर को पुकारा, "बहादुर... बहादुर... इनके साथ चला जा. इनके कुत्ते को दवा पिला आ."

दो चम्मच चिकिन सूप अंदर जाते ही जैकीजी उठकर खड़े हो गये. लगा जैसे उन्हें निमोनिया हुआ ही नहीं था. घर में खुशी की लहर दौड़ गयी. बच्चे खुश, पत्नी खुश, हम भी खुश. चलो, जैकी बच गया. आदतें भले ही अच्छी न हों, मगर रात को भौंकता तो है. इसके भौंकने से हम चैन की नींद सोते हैं.

सरदार सज्जन सिंह के प्रति हमारे मन में बहुत सम्मान पैदा हो गया. उन्होंने न केवल दवा बताई, वरन अपने नौकर को भेजकर हमारे कुत्ते को दवा भी पिलवायी. हमारे अंदर जो मृत्युभय व्याप गया था, उससे भी मुक्ति दिलाई. अब हम उनके घर के सामन से निकलत हुए उन्हें नमस्ते करने लगे. एक मिनट रुककर उनकी कुशल क्षेम भी पूछ लेते. वह भी सुबह टहलने जाते हुए जब हमारे घर के सामने से गुजरते और हमें अपने घर के गेट पर खड़े देख लेते तो मुस्करा देते. उनका मुस्कराना ही हमारे लिए बहुत था, भले ही वह ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे, पर तिमंजली कोठी के मालिक तो थे. कार भी उनके पास थी. आज की दुनिया में यह बड़ी बातें हैं. हमें अपनी पढ़ाई-लिखाई पर अफसोस होने लगा. ऐसी पढ़ाई-लिखाई से क्या फायदा, जो ढेर सारा रुपया कमाना न सिखाये.

सुबह की सैर में सरदारजी के साथ उनका कुत्ता मोती भी होता. दो कदम पीछे-पीछे कायदे से चलता. अगर जरा भी इधर-उधर होता तो सरदारजी आवाज देते... मोती... मोती, और मोती तुरंत भागता हुआ आता. मोती को देखकर हमारी छाती पे घूंसा-सा लगता, क्योंकि हमारे जैकीजी तो पुकारने पर सुनते ही नहीं. अगर जरा धमकाकर बुलाते तो कटखने कुते की तरह अपने नुकीले दांत दिखाने लगते.

"अपने-अपने भाग्य की बात है. जैकी से एक महीने ही तो बड़ा है मोती, पर कितना आज्ञाकारी है. सरदारजी के एक इशारे पर भागता है. कहीं इधर-उधर मुंह भी नहीं मारता. खुला घूमता रहता है, जब बुलाओ तो घर आ जाता है." पत्नी को मोती में एक के बाद दूसरी अच्छाइयां दिखाई देने लगीं थीं.

"तुमसे कहा तो था थोड़ा ठहर जाओ, मगर तुम मानी ही नहीं. ऐसी जल्दी मचायी, अच्छा कुत्ता ला ही नहीं सके." मैंने झुंझलाकर कहा.

"लो, इसमें भी मेरा ही दोष है." पत्नी ने पलटकर जबाब दिया, "आप खुद तो कोई काम ठीक से करते नहीं, दोष मुझे देते हैं."

"चलो... अब बस भी करो. मान लिया, सारा दोष मेरा ही है. जैकी अच्छा कुत्ता नहीं निकला, इसमें भी मेरा ही कसूर है."

हालत यह कि जैकी और मोती के तुलनात्मक अध्ययन में हम मियां-बीबी में खटपट शुरू हो गयी.

अचानक एक दिन मैंने देखा, सरदार सज्जनसिंह अपनी गोद में एक सफेद घने बालों वाले विलायती कुत्ते के बच्चे को उठाये अपनी कोठी के गेट पर खड़े हैं.

"अरे... यह आपने बिलायती कुत्ता कब लिया. यह तो बहुत खूबसूरत है." मैंने प्रशंसा से उसकी गोद में चढ़े खूबसूरत सफेद कुत्ते की ओर देखते हुए पूछा, "कौन-सी नस्ल का है यह?"

"यह पेमेरियन है." सरदारजी अपनी आदत के मुताबिक हंसने लगे.

"कितने का लिया."

"चार सौ का."

"चार सौ का." मेरी आंखें आश्चर्य से फैल गयीं, "मोती का क्या हुआ?"

"वह भी है." सरदारजी ने उंगली से सड़क पार फुटपाथ पर बैठे मोती की ओर इशारा किया.

मैंने घूमकर देखा. मोती फुटपाथ पर बैठा हमारी ओर ही देखकर दुम हिला रहा था. मुझे बड़ा अटपटा-सा लगा. कल तक मोती सरदारजी के पैरों के पास ही खड़ा रहता था. आज विलायती कुत्ते के आते ही उसे सड़क पार फुटपाथ पर बैठना पड़ रहा है.

"तिलायती कुत्ते की बात और है जी." सरदारजी ने गोद में चढ़े बिलायती कुत्ते के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "सेवा खूब मांगता है, पर देखते हैं तो जी खुश हो जाता है."

"यह बात तो सही है. बिलायती कुत्ते की तो बात ही ओर है." मैंने सरदारजी की हां में हां मिलाते हुए कहा.

बहादुर डबलरोटी के चार पीस लिये हुए घर से बाहर आया. सड़क पार फुटपाथ पर बैठे मोती के पास जाकर उसने डबलरोटी के चारों पीस उसके मुंह के आगे रख दिये. मोती उठकर खड़ा हो गया. एक मिनट के लिए उसने पूछ हिलाकर अपनत्व दिखाया, फिर डबलरोटी खाने लगा.

बहादुर वापस आया तो सरदारजी ने गोद में चढ़े बिलायती कुत्ते को देते हुए कहा. "ले. इसे दूध पिला दे."

बहादुर कुत्ते को लेकर अंदर चला गया. मेरा अब वहां खड़े रहने का कोई अर्थ नहीं रह गया था, क्योंकि सरदार सज्जनसिंह सिर्फ हंसना जानते थे. बातचीत करने में उनकी कोई रुचि नहीं थी या कि हमारे बीच वर्ग भेद उभर आया था. वह कोठीवाले और नये रईसों की श्रेणी में आते थे, जबकि मैं एक सामान्य मध्यम वर्ग का नौकरी पेशा आदमी था. सरदार सज्जनसिंह जब अपनी मोटर में सपरिवार निकलते तो मोटर की खिड़की में से बिलायती कुत्ता झांकता रहता. दो एक बार मोती को मोटर के पीछे दौड़ते देखा. जब मोटर तेज गति से सड़क पर निकल गयी तो जीभ निकाले हाफते हुए मोती को वापस कोठी की तरफ जाते देखना बहुत कष्टकर हो गया.

कालोनी जैसी भी थी, अब हमारे लिए आत्मीय हो गयी थी. धीरे-धीरे हमारा मन लग गया. पत्नी सुबह शाम जैकी को जंजीर में बांध कर घुमाने निकलतीं तो एक असीम संतोष उनके चेहरे पर उभर आता. एक खाली प्लाट में बच्चों ने अपने लिए बैडमिंटन का कोर्ट बना लिया. शाम को उछल उछलकर खेलते तो प्रसन्नता उनके सारे शरीर से प्रकट होती. हम भी खुश थे, चलो किराये के मकान से छुटटी मिली. कालोनी जहां इतनी बस गयी, वहां और भी बस जायेगी.

अचानक देश की राजनीति ने अपना रंग दिखा दिया. इक्तीस अक्टूबर का वह दिन, जब चंद पागलों ने एक विशाल वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर धरती पर गिरा दिया और धरती कांप उठी. एक खास वर्ग के लोगों को लक्ष्य बनाकर गुंडों ने मारकाट शुरू कर दी. मकानों को आग लगाना, सामान लूट लेना तो आम बात हो गयी. सड़क पर खड़े ट्रकों और कारों को जला दिया गया. जलते टायरों से उठता धुआं दूर-दूर से देखा जा सकता था. लगता जैसे शिव का तीसरा नेत्र खुल गया और सब कुछ भस्म हुआ जा रहा है. न जाने कहां से जालिमों की भीड़ की भीड़ नारे लगाती, लाठी डंडा लिये चली आती और चुन-चुनकर दूकानों और मकानों को जलाना शुरू कर देती. सरदार सज्जनसिंह का घर भी ऐसे आततइयों से घिर गया. सरदारजी तो खतरे को पहचानकर मुंह अंधेरे ही अपने परिवार के साथ मोटर में बैठकर भाग गये. कोठी का चौकीदार और नौकर भी भीड़ को देखकर कहीं छिप गये. बस रह गया तो सिर्फ मोती. भीड़ को कोठी की तरफ बढ़ते देखकर भौंक-भौंककर उन्हें भगाने की कोशिश करने लगा. तभी उस पर पत्थरों और ईंटों की बौछार होने लगी. चोट से घबराकर मोती भागकर थोड़ी दूर पर एक झाड़ी में घुस गया.

देखते ही देखते भीड़ ने कोठी में आग लगा दी. हम अपने मकान की छत पर खड़े बेबस से तमाशा देखते रहे. घर से बाहर निकलकर कोठी को बचाने की हिम्मत नहीं हुई, क्योंकि हमारे सामने ही जिन पड़ोसियों ने भीड़ को रोकने और समझाने की कोशिश की, उन्हें लाठी-डंडों से मार मार कर लहू-लुहान कर दिया गया.

आग लगाकर जब भीड़ दूसरी कालोनी की तरफ चली गयी तो हिम्मत करके मैं घर से बाहर निकला. दो-चार दूसरे पड़ोसी भी आ गये. इधर-उधर से बाल्टी लेकर पास के खाली प्लाट में लगे हैंडपंप से पानी खींच-खींचकर आग बुझाने की कोशिश की गयी, लेकिन गुंडों की भीड़ न जाने कितना पेट्रोल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मिट्टी का तेल डाल गयी थी, जो आग और भी भड़कती जा रही थी. हारकर हम लोग जलती कोठी से कुछ दूरी पर लाचारी की हालत में खड़े हो गये.

इसी समय मेरा ध्यान अपने पैरों की तरफ गया. मैंने देखा, मेरे पैरों के पास मोती खड़ा था. पत्थर लगने से उसकी पीठ पर खून निकल आया था. मैंने पुचकारा तो वह पूंछ हिलाने लगा. जेब से रूमाल निकालकर मैंने पानी में भिगोया और मोती के खून को साफ कर दिया. वह थोड़ा कुनमुनाया, फिर एक ओर जाने लगा. वह ठीक से चल भी नहीं पा रहा था. शायद उसके पिछले पैर में भी पत्थर लगा था.

दो दिन तक सारी कालोनी में मरघट-सा सन्नाटा छाया रहा. इस बीच कालोनी के लोग टोली बनाकर रात रातभर पहरा देते रहे. मैंने देखा, सरदार सज्जनसिंह की जली हुई कोठी के बाहर मोती बैठा रहता. कभी उठकर इधर-उधर निकल जाता, फिर घूमफिर कर लौटता और कोठी का चक्कर लगाकर फुटपाथ पर बैठ जाता.

मुझे मोती पर बड़ा तरस आया. तीन दिन हो गये, पता नहीं मोती ने कुछ खाया भी है या नहीं. मैं घर से एक मिट्टी के शकोरे में दो रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े करके, उसमें थोड़ा-सा दूध डालकर ले आया, लेकिन मोती ने शकोरे को एक बार सूंघकर दूसरी ओर मुंह मोड़ लिया. न मालूम सरदार सज्जनसिंह इस समय कहां होंगे. जरूर मोटर में बैठकर किसी सुरक्षित स्थान पर चले गये होंगे. विलायती कुत्ते को वह मोटर में अपने साथ ले गये. इस बेचारे मोती को यहीं छोड़ गये. इसे भी लिये जाते तो क्या हो जाता.

मोती के गले में रस्सी बांधकर मैंने उसे अपने घर लाने की कोशिश की, लेकिन वह किसी तरह काबू में नहीं आया. लंगड़ाता हुआ मुझसे दूर चला गया.

चौथे दिन मोती फिर दिखाई दिया. वह लंगड़ा-लंगड़ा कर चल रहा था. शायद कहीं दूर आवारा गंदे कुत्तों में घिर गया था. उसके बाल जगह-जगह से नुचे दिखाई दे रहे थे. और पीठ का घाव भी फूल सा गया था, जिस पर मक्खियां भिनभिना रही थीं. मैंने...मोती...मोती...कहकर उसे बुलाने की कोशिश की. उसने एक बार मुंह घुमाकर मेरी ओर देखा, फिर अपनी दिशा में बढ़ता चला गया.

एक सप्ताह बाद हालात सुधरते दिखाई दिये. लोग अपने घरों को लौटने लगे. जिंदगी को व्यवस्थित करने की कोशिश होने लगी. जो घर जल गये थे, उन्हें फिर से ठीक किया जाने लगा.

सरदार सज्जनसिंह भी अपनी मोटर में वापस आ गये. उनके साथ दो मिस्त्री और कई मजदूर थे. कोठी को रहने लायक बनाने के लिए मिस्त्री और मजदूर जरूरी हो गये थे.

कालोनी के लोगों के साथ ही मैं भी मदद करने के लिए उनके पास पहुंचा. हमारी सहानुभूति की बातों की ओर सरदार सज्जन सिंह ने ध्यान नहीं दिया. गुस्से और नफरत से उनका चेहरा सख्त हो गया था. हिकारत की एक नजर हम पर भी डालकर वह मिस्त्री को आवश्यक हिदायतें देते रहे कि कहां से जले हुए मकान में फिर से प्लास्टर करना है और कहां की ईंटों को फिर से जमाना है. मजदूर कोठी के जले हुए सामान को बाहर निकाल रहे थे. सरदारजी का नौकर बहादुर मजदूरों की मदद कर रहा था. दुर्भाग्य से जो कुछ हुआ, उस पर हमने अफसोस जाहिर किया तो सरदार सज्जनसिंह ने आकाश की ओर उंगली उठा दी यानी 'ईश्वर को यही मंजूर था.'

फुटपाथ के पास खड़ी कार में से विलायती कुत्ता मुंह निकालकर बड़ी बेसब्री से बाहर आने की कोशिश कर रहा था, लेकिन उसे कार में बंद ही इसलिए किया गया था कि वह बाहर न आ सके, फिर भला खिड़की में से वह बाहर कैसे आ सकता था. बाहर आने में बार-बार असफल होने पर कुत्ता अपनी पतली आवाज में भौंकने लगा.

''बहादुर, जिमी को इधर ले आ.'' सरदार सज्जनसिंह ने नौकर को हुकुम दिया.

बहादुर लपककर मोटर के पास पहुंचा. दरवाजा खोलकर उसने जिमी को गोद में उठाया और लाकर सरदारजी को दे दिया. सरदार सज्जनसिंह ने जिमी को गोद में ले लिया. अब वह फिर मिस्त्री को मकान के बारे में कुछ समझा रहे थे.

''आपके पीछे मोती बहुत परेशान रहा. उसने दंगाई भीड़ को भी भगाने की कोशिश की. पत्थर भी खाये. हमने दूध-रोटी दी तो वह भी नहीं खायी. न जाने आपको ढूंढता कहां-कहां मारा-मारा फिरता रहा.''

''कोई नहीं...यहीं कहीं होगा. आ जायेगा.'' सरदारजी ने मेरी बात अनसुनी करते हुए बड़ी बेरुखी से कहा.

''नहीं...अब मोती कभी लौटकर नहीं आयेगा.'' मैंने कहना चाहा, शायद मोती किसी झाड़ी या कि किसी नाली में पड़ा दम तोड़ रहा होगा. हो सकता है, सड़क पार करते हुए किसी ट्रक के नीचे आ गया हो या फिर आसपास के आवारा कुत्तों ने उसे नोच खाया हो.सात दिन के अनशन के बाद उसमें जान ही कितनी बची थी, जो वह वापस आने का रास्ता खोज पायेगा. □

● 274 राजधानी एन्क्लेव, रोड नं 44 शकूरबस्ती दिल्ली

हमारी रचनाएं सर्वश्रेष्ठ हैं

□ मधुकर गंगाधर

मेरी या मेरे साथ लिखने वाले हिंदी-कथाकारों की कृतियां कई बातों में विश्व की बहुत-सी स्थापित और प्रमुख भाषाओं की रचनाओं से ज्यादा जिंदगी—भरी हैं. जिन बिंदुओं पर मैं ऐसा कहने का दावा करने चला हूं, ये हैं प्रतिश्रुति के दायित्व, अभियान की अकुलाहट एवं साधनहीनता के बीच नये किस्म के आत्मबोध तथा व्यक्तित्व-निर्माण के प्रयास.

मैंने महसूस किया है कि यद्यपि शिल्प, भाषा एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर हमारे कथाकार स्वच्छंदता एवं प्रयोग के उपयोगी हैं, फिर भी उनके संस्कार उन्हें आर्ष-धर्म प्रवृत्ति से मुक्त नहीं होने देते. फल यह होता है कि मानव-धर्म के प्रति रचनाओं में स्वतः एक प्रतिश्रुति उतर आती है. यह प्रतिश्रुति अमरीका, फ्रांस, इंग्लैंड के कथाकारों की व्यक्तिवाची दीप-संस्कृति की निस्संगता से भिन्न है. हमारी प्रतिश्रुति रूस एवं रूस-पंथी साहित्य की तरह शिलीभूत चेतना की पर्याय भी नहीं होती.

महत्वपूर्ण बात हमारा अभियान-धर्म है. जल्द कोई विश्वास नहीं कर पायेगा, जब वह नयी कहानी के इतिहासको पढ़ेगा और जानेगा कि कितने कम समय में इसने कितनी ऊंचाई और कितना विस्तार लिया. यह प्रगति अनेक विरोधों एवं गलतफहमियों के बीच हुई है.

फिर भी हम अपराजेय और धीर बनकर नये-नये शिल्पी, महिमामयी कृतियां दिये जा रहे हैं. क्या इस जीवनेच्छा का प्रमाण अन्य किसी भाषा में उपलब्ध होगा?

ऐसी भी कुछ बातें हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर अभी हमारी कहानियां दुनिया की चंद श्रेष्ठ भाषाओंकी कहानियों के समक्ष संकोच से रखी जायेंगी. हमारी जिंदगी अभी इतना दायित्व ढोने में सक्षम नहीं हो पायी है, जो सर्वशुद्ध स्वतंत्र नागरिकता के भूषण हैं. यह सत्य है कि हमारे कथाकार जनसंकुल गलियों से लेकर ऊजड़-वीरान तक छाये जा रहे हैं, किंतु जिस आत्मभोगी संयमित आत्माभिव्यंजन से कथा में सर्वथा नूतन स्थायित्व एवं अक्षय शिल्प आता है, वह नहीं हो पा रहा है. यह हमारी असमर्थता नहीं है, इतिहास का प्राकृत सत्य है. इसे मिटाया नहीं जा सकता. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्लैक होल

योगेश गुप्त

क्या कारण था कि जहां दुनिया की हर चीज ब्लैक होल में समा रही थी वहां वह बूढ़ा ब्लैक होल के मुहाने पर हुक्का गुड़गुड़ाता हुआ आराम से बैठा था ? वह कौन सी शक्ति थी बूढ़े में जिसके कारण ब्लैक होल उसे लीलने में असमर्थ था ?

आप कुछ भी मानें, पर मुझे लाइन में खड़े होने से नफरत है. बस की हो या दूध की या राशन की या किसी और चीज की. इसके दो कारण हैं. एक तो यह कि लाइन में जरूरी तौर पर सबसे पीछे खड़ा होना होता है और दूसरा यह कि इसमें कोई भी आगे तब तक नहीं बढ़ सकता जब तक कोई पहला व्यक्ति चला न जाये. लाइन में घुसपैठ के तरीके जो जानता है वह इस आदत को सभ्यता का लक्षण बताते देखा गया है. मैं उससे मुत्तफिक हूं. और क्योंकि यह सभ्यता का लक्षण है, इसलिए मैंने अपने लिए असभ्य रह जाना चुन लिया है. और सच मानिये, मैं खुश हूं.

आप कहेंगे कि उस आदत को पकाए बिना आज कोई भी कुछ पा नहीं सकता. मैं यहां भी आपसे सहमत हूं. पर मैं मानता हूं कि कुछ न पाने से आदमी का कुछ नहीं बिगड़ता. पर लाइन में खड़े होने से जो वह खोता है...सच मानिये, चाहे घुसपैठिया हो चाहे लाइनबाज, वह फिर आदमी नहीं रहता—और कुछ भी बन जाए—लाइन का धब्बा बन जाता है. मैं आपके माथे की शिकन देख रहा हूं. मैंने बिंदु को धब्बा कहा है. आप समझ रहे हैं, मैं असभ्य ही नहीं अनपढ़ भी हूं. इतना भी नहीं जानता कि तरतीब से लगे बिंदु रेखा बनाते हैं और इस दुनिया की गोलाई अनेक वक्र रेखाओं का व्यवस्थित रूप ही तो है. अपने ही तर्क से मुड़ती चली जाती दीर्घ रेखाएं. अपनी तरतीब और तर्कसंगतता के कारण ही तो वे बड़े विस्तार पर यात्रा करने के बावजूद वापिस अपनी शुरूआत के बिंदु तक पहुंच जाती हैं. एक अक्षांश भी भटक जायें तो कभी कहीं न पहुंचें, अनंत काल तक भटकती रहें. और फिर धरती भी गोल न रहे.

मैं कब कहता हूं, आप गलत कह रहे हैं. मैं जानता हूं यह तरतीब, यह तर्कसंगतता न हो तो ये धरती-सूरज, ये चांद-तारे, ऊपर तनी असीम कालिख उस पर पड़े असंख्य सफेद धब्बे पलक झपकते आपस में टकराकर चकनाचूर हो जायें और देखने लायक, अनुभव करने लायक कहीं कुछ न रहे, मैं भी चाहता हूं ये सब बने रहें, आप भी बने रहें. इनका बखान करते रहें, जिन सिद्धांतों के तहत ये अपने नियत मार्गों पर आगे-पीछे दौड़ रहे हैं, उनका बखान करते रहें, पीढ़ी-दर-पीढ़ी. मैं तो अपनी बात कह रहा था—मुझे लाइन में खड़े होना, लाइन में चलना, लाइन में भागना पसंद नहीं है. और इस नापसंदगी के कारण मैं आपको बता चुका हूं. अब आप मुझे असभ्य कहें, अनपढ़ कहें आपकी मर्जी है. आपका विश्वस्त अनुशासन जो आपसे करायेगा वही तो करेंगे आप. मैं जानता हूं आप स्वतंत्र हैं, पर यह भी मानता हूं कि आप लाचार भी बहुत हैं.

नहीं-नहीं, नाराज होने की जरूरत नहीं है. मैं आपको बेनकाब नहीं कर रहा, सिर्फ पहचानने की कोशिश कर रहा हूं. मुझसे गलती होगी तो, जाहिर है, सजा मुझे मिलेगी. आप अपनी जगह सुरक्षित हैं. आपकी लाइन आपकी रक्षा करेगी. देखिये करिश्मा कुदरत का. कब, लाइन ने, भगवान की जगह ले ली, पता ही नहीं चला.

मैं आपकी तकलीफ समझ रहा हूं. मुझे बात और खुलकर करनी चाहिए. तो सुनिये, मैं आपको एक कहानी सुनाता हूं.

पर कहानी से पहले एक छोटी-सी बात. आपको मालूम है आकाश में कितने तारे हैं. मैं बताता हूं. यह तो आप जानते ही होंगे कि बहुत से तारे मिलकर एक आकाशगंगा बनाते हैं. तो यूं समझिये कि एक आकाशगंगा में इतने तारे होते हैं कि यदि इस धरती पर जितने आदमी हैं उन सबमें बराबर बराबर इन्हें बांटा जाए तो हरेक के हिस्से में पच्चीस तारे आ जाएंगे. और हुजूरे अनवर, और सुनिये. इस आकाश में इतनी आकाशगंगाएं हैं कि यदि उसी तरह इन आकाशगंगाओं को भी धरती के लोगों में बराबर बराबर बांटा जाए तो हरेक के हिस्से में पच्चीस आकाशगंगाएं आ जायेंगी. तो समझे आप? हममें से हरेक कितना समृद्ध है. इन तारों में से किसी पर भी आदमी है नहीं. यानी इनका कोई दावेदार नहीं है, ये लावारिस हैं, इसलिए सिद्ध हुआ कि इनके मालिक हम हैं. यानी हम में से हरेक की जेब में पच्चीस आकाशगंगाएं हैं. अब एक मेहनत आप कर लीजिए. यह गणित आप लगा लीजिए कि पच्चीस आकाशगंगाओं का बाजार भाव क्या बैठेगा, चाहे रुपयों में, चाहे रूबलों में, डालरों में या पौंडों में. इससे आपको यह अंदाजा हो जायेगा कि आपके पास कितने पैसे हैं जो एक तरह से विश्व बैंक में जमा हैं.

आपको पता है, इन तारों की गति कितनी तीव्र, कितनी नियमबद्ध, कितनी तर्कसंगत, कितनी स्थिर होती है. पर उससे क्या, संपत्ति तो आखिर संपत्ति होती है और यह सच है कि हमारे, आपके और सबके पास अकूत संपत्ति है. मुझे मालूम है, इसके बावजूद बंटवारे के वक्त झगड़ा होगा. और होना भी चाहिए. गिनती से क्या होता है. संपत्ति अपने मूल्य में बराबर बंटनी चाहिए. तारों के आकार की नाप-तोल करनी पड़ेगी. सबके पेट चीरकर देखना होगा, किसके गर्भ में कितना और किस स्तर का, यानी किस मूल्य का माल है. कौन धोखा खाना चाहेगा. बहुत मोटा पेट हो और अंदर कुछ न हो तो जिसके हिस्से वह तारा आयेगा वह तो लुट गया न. बंटवारे के वक्त भला लुटना कौन चाहेगा. आप चाहेंगे?

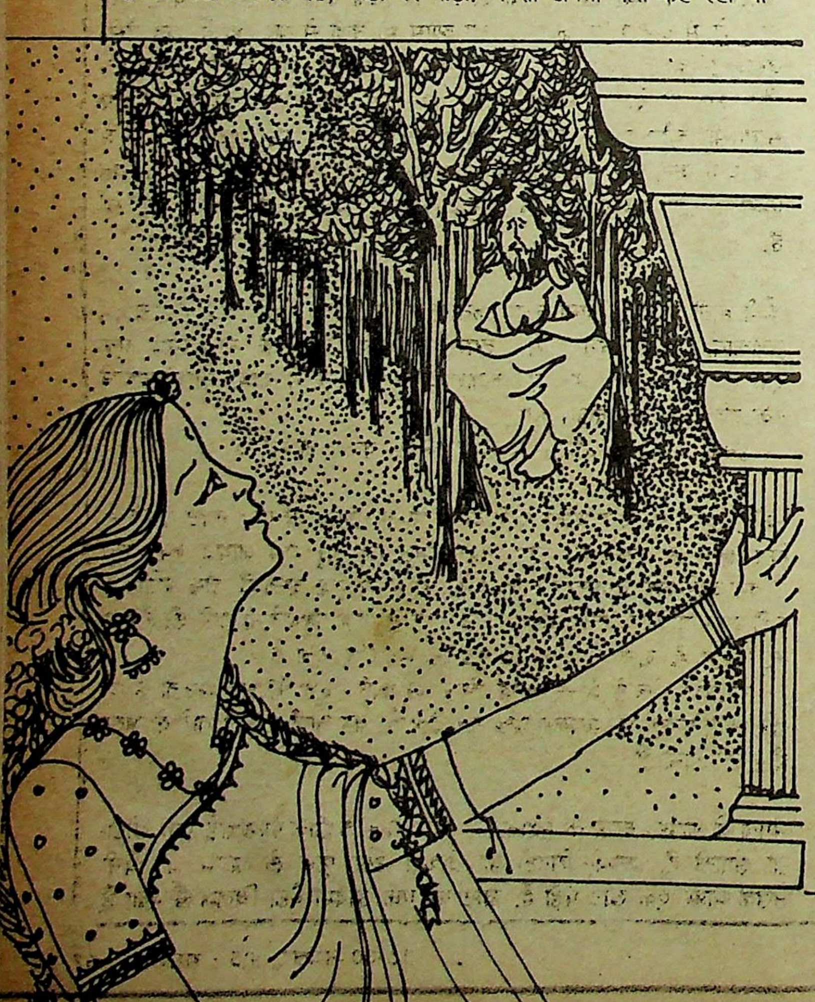

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओह हो, आप तो गुस्से से लाल हो रहे हैं. यह सोचकर कि यह मैं क्या ऊलजलूल बक रहा हूं. मैंने कहा था—मैं एक कहानी सुनाता हूं. पर फुदककर पहुंच गया गया आकाश में. वह भी दो गहरी जेबों वाला कुर्ता पहनकर, हिंदुस्तानी बनियों जैसा. दो कुएं दोनों तरफ लटके हुए—कुर्ते के. तारे भरने के लिए.

तो चलिए. मुआफ कर दीजिए. सुनिये, अब सुनाता हूं, कहानी आपको. अब नहीं बहकूंगा. पर इतनी देर के संपर्क से आप इतना तो समझ ही गये होंगे कि लाइन में चलने से आखिर मुझे नफरत है क्यों. दरअसल अपनी नाक ही जब मुझे नहीं दीखती तो सीध बनाऊं कैसे. चलिए, छोड़िये. सुनिये, आपको अब कहानी ही सुनाता हूं.

पर मुझे डर है यह कहानी आपने पहले भी सुनी होगी. मेरा खयाल है, मैं भी यह कहानी कहीं से सुनकर ही आया हूं. पर कोई बात नहीं. कहानी तो कहते ही सुनी-सुनायी बात को हैं. तो कहानी कहने के ढंग में से सिलवट निकाल देने के लिए बात को इस तरह शुरू कर लेते हैं कि किसी ने मुझे एक कहानी सुनायी थी, वह मैं आपको सुनाता हूं. सुनिये—

एक छोटा-सा शहर. एक छोटे-से राज्य की राजधानी. शहर के दक्षिणी छोर पर एक छोटा-सा किला. उसमें राज परिवार रहता था. एक राजा, एक रानी, युवराज और युवराज की पत्नी. हाल के विवाहित. दोनों पति-पत्नी उच्च शिक्षा-प्राप्त. शालीन, सभ्य और शिष्ट. राजा अपने पुत्र और पुत्रवधु से संतुष्ट. मृत्यु के उपरांत से एकदम निश्चिंत. इस लोक से भी और परलोक से भी. राजा अपने सभासदों से कहता—"मैंने इस लोक में कभी कोई अन्याय नहीं किया, मेरा परलोक सुरक्षित है. इस लोक में किये पुण्यों का फल मुझे ऐसे पुत्र के रूप में मिला है."

राजपुत्र का नाम मोहनऋृषि और उसकी पत्नी का नाम उमाप्रज्ञा देवी था. उमाप्रज्ञा अतीव सुंदरी और असाधारण रूप से कुशाग्रबुद्धि थी. पति-पत्नी में बहुत प्रेम था.

वे रोज शाम को घोड़ागाड़ी पर बैठकर जंगलों की तरफ घूमने जाया करते थे. यह सच है कि उस राजमहल के सामने शहर था और बाकी तीन तरफ घना जंगल था. ऐसा लगता था जैसे राजमहल को गले तक जंगल में गाड़ दिया गया है.

तो एक दिन की बात है—

उमाप्रज्ञा देवी को एक सपना दीखा. जो दीखा उसे सपना कहना एक तरह से गलत होगा. उन्होंने जो देखा, वह पूरी तरह से जागते हुए. सपना केवल उसे इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि दृश्य के एक बार आंखों से ओझल हो जाने के बाद वे उसे फिर कभी नहीं देख सकीं. उन्होंने अपने आप को बहुत लाचार महसूस किया. वे बहुत उदास रहने लगीं और एक दिन आखिर फैसला किया कि जो उन्होंने सपने में देखा है उसे वे जिंदगी में उपलब्ध करके रहेंगी. यानी वही दृश्य वे असली जिंदगी में मंचित करेंगी, उसे जीवन में घटित करायेंगी. क्योंकि उनकी धारणा थी कि कल्पना का अनुभव वास्तविक अनुभव से जुड़कर ही संपूर्ण अनुभव बनता है. यही नहीं वे यह भी मानती थीं कि वास्तविक अनुभव तब तक अधूरा है जब तक वह काल्पनिक अनुभव की तरह अमूर्त न हो जाये. यानी कल्पना में उसे उपलब्ध न किया जा सके, चाहे उसका स्वरूप ही क्यों न बदल जाये पर सार उसका वही रहे. .

तो उमाप्रज्ञा देवी ने निश्चय किया कि वे उस सपने को संपूर्ण यथार्थ तक पहुंचा कर रहेंगी.

युवराज्ञी ने क्या किया, मैं आपको यह भी सुनाऊंगा, पहले यह बता दूं कि उन्होंने आखिर क्या सपना देखा था. जाहिर है आप भी यही जानने के लिए उत्सुक होंगे. होना ही चाहिए. तो सुनिए—

होने वाली रानी ने देखा— वह अपने महल के पिछवाड़े जंगल की ओर खुलनेवाली खिड़की पर खड़ी है दरअसल वह खड़ी भी वहीं थी—और जंगल को दूर तक चीरकर देख रही हैं. जंगल गहरा भी है और अंधेरा भी. अधिक गहरा इसलिए भी लग रहा है क्योंकि खिड़की के ठीक सामने जंगल में एक दरार है. कोई दस गज चौड़ी दरार. जंगल को दो हिस्सों में बंटाती हुई. इसीलिए जंगल दूर गहराई तक दीख रहा है, और इस दरार के दोनों तरफ के पेड़ों की बनावट और ऊंचाई-नीचाई को प्रकृति ने कुछ इस तरह व्यवस्थित किया है कि नजर इस बूमरैंग के बाहर किनारे-किनारे फिसलती हुई आसमान में बने एक विशाल काले सूराख से जा टकराती है. दरअसल देखने वाले को ऐसा अनुभव होता है जैसे वह एक वक्राकार दूरबीन से 'ब्लैक होल' को देख रहा हो. उमाप्रज्ञा को लग रहा है जैसे वह आकाश में उस 'ब्लैक होल' में घटती प्रत्येक रहस्यमय घटना को साफ-साफ देख रही है. जंगल की दरार के दोनों तरफ जो घट रहा है, वही 'ब्लैक होल' में 'रिपीट' हो रहा है. केवल चेहरे बदल रहे हैं. उमाप्रज्ञा की आंखें कभी रास्तों पर भटकती हैं तो कभी 'ब्लैक होल' तक जाकर जड़ हो जाती हैं. वह हतप्रभ है कि यह सब क्या हो रहा है और दूरबीन और 'ब्लैक होल' में घटनाओं की पुनरावृत्ति कैसे हो रही है. वह इतना मनोरंजक पर भय पैदा करने वाला नाटक कौन खेल रहा है?

यह शाम का वक्त है जब यह चमत्कार घट रहा है. खिड़की और जंगल के बीच हल्के उजाले की एक मोटी दीवार है. खिड़की में अंधेरा है और सामने जंगल में घुप्प अंधेरा है. प्रकाश-व्यवस्था का यह वही क्रम है जो शाम के वक्त कुएं की तलहटी, हल्का उजला वातावरण और गहरे काले आकाश का बनता है. इस क्रम के अनुसार उमाप्रज्ञा कुएं की तलहटी में है और प्रकृति-प्रदत्त दूरबीन से आकाश के गोल कटे चकत्ते जैसे स्क्रीन पर तैरती आकृतियों को देख रही है. कहते हैं, कुएं की तलहटी से भरी दोपहरी में आकाश के तारे दिखाई देते हैं. यह तो सच है ही कि दृश्य का चरित्र इस बात से निर्धारित होता है कि आप कहां बैठकर उसे देख रहे हैं.

तो उमाप्रज्ञा देवी को यह सब दीख रहा है.

जंगल की दरार में खुदाई चल रही है. पेड़ काटे जा रहे हैं. यानी जंगल की दरार को कोई चौड़ा कर रहा है. वह कौन है यह दीख नहीं रहा. चलते हुए फावड़े, कुदाल, कुल्हाड़े और आरे दीख रहे हैं, चलाने वाले एकदम अदृश्य हैं. पर यह साफ है कि दरार चौड़ी होती चली जा रही है. चौड़ी होती दरार में से दीखते 'ब्लैक होल' का व्यास भी तेजी से बढ़ रहा है. वह जैसे-जैसे बढ़ रहा है, चारों तरफ व्याप्त भय बढ़ रहा है. ऐसा महसूस हो रहा है जैसे कुछ ही देर में धरती, जंगल और पूरा जीव-जगत पिघल कर उस सर्वग्रासी 'ब्लैक होल' में ढुलक जायेगा. ऐसे ही जैसे कोई आदमी कुएं में से एक घड़ा पानी भरे और फिर धार बनाकर वापस उसी कुएं में डाल दे. यह एहसास और यह प्रक्रिया गड़मड़ होकर उमाप्रज्ञा को स्तंभित कर रहे हैं.

चौड़ी होती दरार के दोनों तरफ कतारों में खड़े लोग उभर आये हैं. एकदम कृशकाय. अस्थिपंजरों जैसे. दरार के चौड़ा होने के साथ-साथ एक एक कदम पीछे हट रहे हैं. कतार के अनुशासन में बंधे. आमने-सामने टकटकी लगा कर देखते हुए...

उनकी पुतलियां कोटरों में और धंसती चली जा रही हैं.

'ब्लैक होल' के अंदर थोड़ी-थोड़ी देर में नीली रोशनी की एक लपट उठती है फिर शांत हो जाती है. साफ नहीं दीख रहा पर यह शायद तब होता है जब कोई तारा ढुलकता हुआ 'ब्लैक होल' में डूब जाता है. दीख इसलिए नहीं पाता क्योंकि 'ब्लैक होल' के कगारों के पास पहुंचते ही तारे की रोशनी बहुत मंद हो जाती है. वह टिमटिमाना बंद कर देता है.

उमाप्रज्ञा सोचती हैं—'ब्लैक होल' में कोई बहुत विशाल भट्ठी है जो तारों को मिनटों में जलाकर राख कर देती है, वह नीली रोशनी तारे के भस्म होने की होती है.

जंगल के बाहर, दरार के मुहाने पर, राजमहल के ठीक पिछवाड़े एक छोटी-सी झोपड़ी है, कच्ची मिट्टी की दीवारों और फूस के छप्पर की बनी. उसके बाहर एक खाट पड़ी है. खाट पर एक आदमी बैठा चिलम पी रहा है.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

इस पूरे दृश्य की तरफ पीठ किये बैठा है. न उसे कोई जंगल से डर है न दरार से कोई वास्ता. आसमान की तरफ वह देखता ही नहीं कि 'ब्लैक होल' उसे दिखाई दे. वह लगातार जमीन की ओर देख रहा है और चिलम गुड़गुड़ा रहा है. बीच-बीच में वह अपना एक हाथ खाट की बाहीं से रगड़ लेता है, जैसे उसको हथेली में खाज उठती हो. हथेली कभी दायीं होती है कभी बायीं, या शायद बारी बारी से... उस आदमी की उम्र का अंदाजा लगाना मुश्किल है.

उमाप्रज्ञा को लगा है, यह आदमी जंगल, दरार और 'ब्लैक होल' से भी अधिक भयानक और आश्चर्यजनक है. यह सोचते ही उसने दूरबीन से आकाश में स्थित 'ब्लैक होल' को देखा है. उसे दीखा है—वह आदमी 'ब्लैक होल' के गोलाई लिये मुहाने पर चारपाई डाले बैठा चिलम गुड़गुड़ा रहा है. होल की तरफ पीठ किये, धरती की तरफ देखता हुआ, जोर जोर से चिलम गुड़गुड़ाता और बीच में दायीं या बायीं हथेली खाट की बाहीं से रगड़ता हुआ.

असंख्य लोग उसके पीछे लाइन में खड़े हैं. एक-एक आदमी 'ब्लैक होल' में गिर रहा है. लाइन आगे की तरफ रेंग रही है. पर यह आदमी निर्द्वंद्व खाट पर बैठा चिलम गुड़गुड़ा रहा है.

'ब्लैक होल' उसे लील नहीं पा रहा है.

उमाप्रज्ञा हड़बड़ा कर खिड़की से हट गयी है. उसका सारा बदन पसीने से तरबतर हो गया है. वह भागकर अपने कमरे में आयी है, रोशनी की है और अपने विशाल पलंग पर हांफती हुई बैठ गयी है.

उमाप्रज्ञा ने कहीं पढ़ा था—कोई भी व्यक्ति ऐसी किसी चीज की कल्पना नहीं कर सकता जो दूर भूत, सामने फैले वर्तमान या अनागत के असीम विस्तार में अपना अस्तित्व न रखती हो. वह अपने पलंग पर बैठी सारी रात सोचती रही. पति मोहनऋषि राज्य के दौरे पर शहर से बाहर गये थे. वह हालनुमा शयनागार में अकेली थी. उसे अकेले रहने की आदत बहुत कम थी. पर इस समय वह जिस तरह के विचारों में खोयी थी, उसे अकेला होना किस कद्र अच्छा लग रहा था. मोहनऋषि होते तो कल्पना के भटकाव का आनंद बिल्कुल न लेने देते. दिमाग में गहमागहमी बंद हो जाती, शरीर सक्रिय हो उठता. आज उमाप्रज्ञा को लग रहा था कि शरीर-निरपेक्ष मन की गतिशीलता का अपना अलग ही मजा है.

वह बैठी न जाने क्या-क्या ऊलजलूल सोचती रही.

पूरी रात इसी तरह बीत गयी.

सुबह तक उन्होंने निश्चय किया कि खाट पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ाते इस आदमी को ढूंढना होगा. वह कहीं न कहीं जरूर होगा.

आगे की कहानी बहुत मजेदार है सुनेंगे न आप? ठीक है, सुनिये —

मोहनऋषि के आने पर उमाप्रज्ञा ने पूरे राज्य में उस आदमी की तलाश शुरू कर दी. उमाप्रज्ञा खुद रथ पर बैठकर गली गली घूमी. आसपास के गांव उसने छान मारे. मोहनऋषि ने भी पत्नी की प्रसन्नता के लिए हर संभव प्रयत्न किया. यों कि वह मानता था कि भ्रम में दीखा आदमी धरती पर उतरकर नहीं दीख सकता. पर उमाप्रज्ञा हठ पर अड़ी हुई थी. वह आदमी जरूर होगा, जरूर मिलेगा. वह सो कहां रही थी. खड़ी थी. उसने साफ देखा था—जंगल की दरार के मुहाने पर, ऊपर आकाश में 'ब्लैक होल' की गोलाई पर निश्चित भाव से खाट पर बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाता आखिर कहां से आया वह? नहीं, वह जरूर होगा, जरूर मिलेगा.

और युद्ध-स्तर पर उस आदमी की तलाश जारी रही.

समय बीतता रहा.

खोज जारी रही.

उस सपने के दीखने की वर्षगांठ का दिन. इस बीच कई घटनाएं घटीं. राजा और रानी दोनों मर गये. मोहनऋषि राजा बने और उमाप्रज्ञा रानी. राजकाज में मोहनऋषि की व्यस्तता बढ़ गयी. उमाप्रज्ञा महल में अकेली पड़ी रहने लगी. उस आदमी की तलाश अब राजा को रानी की सनक लगने लगी. रानी हाथ-पैर पटकती पर न पत्थर हिलता, न नीचे से मेंढक निकलता. उमाप्रज्ञा को लगने लगा, वह रानी नहीं राजा की रखैल है. जब सबसे निपट लेगा तो उसके पास आयेगा. राजघरानों में सदियों से यही तो होता आया है.

ठीक एक साल बीत गया जब वह सपना दीखा था. आज ही का दिन था. रानी खिड़की के पास आकर खड़ी हो गयी है. पीछे वही घना जंगल है, दो हिस्सों में बंटा हुआ. इस बार रानी ने देखा, जंगल के विभाजन में एक तरतीब है. एक तरफ उपयोगी फलों के पेड़ हैं—आम, अमरूद, जामुन और खजूर. तो दूसरी तरफ ऐसे पेड़ हैं जो जंगल की सुंदरता तो बढ़ा रहे हैं, पर फल उन पर कोई नहीं है. रानी सोचती रह गयी, यह भेद उसे पहले क्यों समझ में नहीं आया? जंगल तो वह मुद्दत से देखती चली आ रही है. पहले उसे क्यों समझ नहीं आया कि जंगल दो वर्गों में बंटा है और बीच की खाई दिन पर दिन चौड़ी होती जा रही है. उसने बीच के रास्ते की दूरबीन में से पहले ही की तरह 'ब्लैक होल' को देखना चाहा पर वह उसे कहीं दिखाई नहीं दिया. अरे! यह 'ब्लैक होल' कहां गया? क्या धरती की छत बदल गयी है? क्या वह आदमी उसमें समा गया होगा? क्या इसीलिए वह आदमी बाहर कहीं नहीं मिला? क्या उसे लीलते ही 'ब्लैक होल' बंद हो गया? क्या धरती पर भी इस घटना का असर पड़ेगा? क्या तारों की गिनती बढ़ जायेगी क्योंकि 'ब्लैक होल' अब उन्हें निगल नहीं पायेगा? क्या अब तारों के बंटवारे के समय हरेक के हिस्से में पच्चीस से अधिक तारे आ जायेंगे? क्या...?

वह यह सब सोच ही रही थी कि दासी ने आकर सूचना दी, "एक देहाती आपसे मिलना चाहता है."

रानी ने खुद को सपने से तोड़ा. दासी की तरफ देखते हुए पूछा, "कौन है?"

"एक देहाती है."

"मुझसे क्यों मिलना चाहता है, राजा साहब से मिले?"

"वह कहता है, आपने उसे बुलाया है."

"मैंने?"

"वह कहता है, मैं हूं वह आदमी जिसकी रानी उमाप्रज्ञा को तलाश है, जिसे वे एक साल से ढूंढ रही हैं."

"वह खुद यह कह रहा है."

"जी."

रानी पल भर खड़ी सोचती रहीं फिर बोलीं, "जाकर कह दो उससे कि मैं मिलना नहीं चाहती. कोई खुद नहीं बता सकता कि वह किसी के सपने में दीखा था. हम उसे पहचानेंगे. वह अपनी पहचान खुद नहीं बता सकता. जाओ."

दासी लौटने लगी तो वह फिर बोलीं, "लौटकर बताना उसने क्या कहा है."

कहकर वह खिड़की पर खड़ी हो गयी है.

बाहर न जंगल है, न दरार, न 'ब्लैक होल', घुप्प अंधेरा है. आकाश में एक भी तारा नहीं है.

दासी ने लौटकर बताया है, "वह जवाब सुनने से पहले ही चला गया था. कह गया है कि वह महल के पिछवाड़े पूर्वी किनारे की पट्टी पर रहता है. जरूरत हो तो याद कर लें."

उस दिन भाग्य से राजा ने निश्चित समय से पहले ही राजमहल में प्रवेश किया. रानी उमाप्रज्ञा ने पति को इतनी सुविधा भी नहीं दी कि वह स्नान करके कुछ पौष्टिक पेय गले में उतार लें. उससे पहले ही उसे देहाती के आने की पूरी कहानी पीनी पड़ी. उमाप्रज्ञा जैसी गंभीर स्त्री की यह धैर्यहीनता उसे समझ नहीं आयी. इससे उसे थोड़ा दुख भी हुआ. पर उसने अपना धीरज नहीं छोड़ा. शांति से पत्नी को कंधे पर थपथपाया. कहा, "ठीक है, अभी थोड़ी देर में चलते हैं. महल के पिछवाड़े हम लंबे अरसे से गये भी नहीं हैं. अनुचर से कहो छोटा रथ तैयार करे. मैं तब तक नहा-धोकर आता हूं."

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रानी ने टक लगाकर बोलते पति की आंखों में देखा. वह समझ गयी कि पति को उसकी उत्तेजना से खेद हुआ है. पर उस समय उसने बात को फिर उलटने की चेष्टा नहीं की. जो हो गया, ठीक है, होने दो. उसने अनुचर को बुलाकर आवश्यक आदेश दिया. फिर खुद भी तैयार होने के लिए अंदर चली गयी.

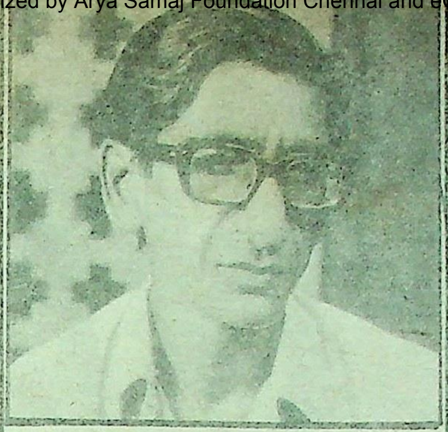

योगेश गुप्त

राजा-रानी का रथ जब मुख्य-द्वार से निकलकर पूरे राजपथ को पार करके बायीं तरफ मुड़ा तो राजा ने आश्चर्य से देखा कि वह रास्ता उतना साफ-सुथरा नहीं है जितना राजपथ है. रथ जितना आगे बढ़ता गया उसे रास्ते के दोनों तरफ मलबे के ढेर लगे दीखे. रानी उमाप्रज्ञा ने ध्यान से राजा का चेहरा देखा. उस पर खिंचाव बढ़ता चला जा रहा था. जैसे-जैसे चारों तरफ से उठती बदबू की तीव्रता बढ़ रही थी राजा के अंदर उबलता क्रोध उसके चेहरे पर आता जा रहा था. आखिर जब राजा से सहन नहीं हुआ तो उसने रथ के साथ-साथ चलते घुड़सवार अंगरक्षकों में से एक को बुलाया और आदेश दिया कि वह तत्काल वापस जाये और नगर के स्वास्थ्य अधिकारी को लेकर पिछवाड़े की पूर्वी पट्टी पर पहुंचे. हम उसे वहीं मिलेंगे.''

घुड़सवार चला गया तो राजा ने रानी से पूछा, ''इतनी दुर्गंध उठ रही है, मुझे आश्चर्य है, तुम अब तक मूर्च्छित क्यों नहीं हुईं?''

रानी ने ध्यान से राजा की तरफ देखा, कहा, ''दुर्गंध ! ? कहां है दुर्गंध?''

इस बार राजा चकित हुआ, ''क्यों, ये चारों तरफ लगे मलबे के ढेर, उनसे उठती दुर्गंध, तुम्हें...क्या तुम किसी कारण से इतनी आत्मलिप्त हो?''

रानी ने चारों तरफ देखा, रास्ते के दोनों तरफ फूलों की बड़ी बड़ी क्यारियां बनी थीं. जिनमें लगे अनेक प्रकार के फूल आपस में हंस बोल रहे थे. ठंडी हवा के झोंके फूलों को और भी मुखर बना रहे थे. डूबते सूरज की किरणों ने हर फूल के रंग को चटकीला, नेत्रप्रिय कर दिया था. रानी उमाप्रज्ञा सोच में पड़ गयी. यह राजा को क्या हुआ है. उसके भीतर की कौन-सी गंध सुगंध को दुर्गंध में बदल रही है. पर वह बोली कुछ नहीं. अपने और राजा के बीच एक अमूर्त पटिया लगाकर वह चुपचाप बैठ गयी. उसे मालूम था उसके चुप रहने से राजा का क्रोध और झुंझलाहट बढ़ेगी पर बोलना उसे निश्चय ही ज्यादा खतरनाक लगा.

रथ आगे बढ़ता रहा. राजा को लगता रहा कि चारों तरफ से उठती बदबू निरंतर बढ़ रही है, गाढ़ी हो रही है. रानी को लगता रहा कि वातावरण का सुहावनापन अधिक से अधिक स्वर्गिक होता जा रहा है. उसने मन ही मन कहा, ''ऐसा वातावरण और महल के पिछवाड़े. यह तो...'' पर यहीं उसने स्वयं को रोक लिया ओर चेहरे को नितांत भावहीन बना कर बैठ गयी.

रथ एक बार फिर बायें घूमा और सामने ही रानी को एक कुटिया नजर आयी जिसके बाहर खाट पर बैठा एक आदमी चिलम पी रहा था. राजा और रानी को नजर एक साथ उस पर पड़ी.

रानी के मुंह से अचानक निकला, ''वही तो है.''

राजा ने प्रतिक्रिया में कहा, ''सपने में दीखे आदमी को कोई निश्चय से कैसे पहचान सकता है.''

रानी उमाप्रज्ञा चुप रहीं, कुछ नहीं बोलीं.

रथ कुटिया के पास जाकर रुका तो उस ग्रामीण ने चिलम एक तरफ रख दी और उठकर खड़ा हो गया. रथ के कुछ पास खिसका और हाथ जोड़कर नमस्कार किया. कहा, ''स्वागत, राजा मोहनऋषि, स्वागत रानी उमाप्रज्ञा, इस कुटिया में आप दोनों का हार्दिक स्वागत ! अहोभाग्य !''

राजा स्तंभित रह गया. कुटिया में रहने वाला एक आदमी उनका स्वागत नाम लेकर कर रहा है. झुककर नहीं खड़ा, सीधा खड़ा है. पर रानी उमाप्रज्ञा कुछ और ही देख रही थी. वही सपने वाला जंगल, वही बीच से निकलती दरार, वही दो हिस्सों में बांटती दरार. एक तरफ उपयोगी फल-फूल, एक तरफ जंगली पेड़-फूल और झाड़-झंखाड़. दरार के दूसरे किनारे पर दीखता आकाश का टुकड़ा और उस टुकड़े पर चिपके-चमकते तारे. तारों के बीच बना 'ब्लैक होल' फिसलन भरे गोल किनारों वाला. किसी को भी लीलने में समर्थ.

उसने घूमकर उस ग्रामीण की तरफ देखा.

दीखा, वह मुस्करा रहा है.

रानी क्रुद्ध हो उठी, बोली, ''तुम्हें अपनी कुटिया यहां से हटानी होगी.''

''किस अपराध के लिए.''

''यह राजा का हुक्म है.''

''तो मुझसे क्यों कह रही हैं, हटवा दीजिये.''

''वही ठीक रहेगा.''

कहकर उसने राजा की तरफ देखा.

राजा चुप सुन्न खड़ा था. बहुत गंभीर मुद्रा में. उसने कोई जवाब नहीं दिया.

उस ग्रामीण ने कहा, ''रानी, मैं अपना अपराध जानता हूं. पर आपके सपने में जो घटता है, उसकी सजा मुझे क्यों. कुटिया आप हटवा दीजिये. चाहें तो मुझे भी हटवा दीजिये, यह जंगल कटवा दीजिये, सामर्थ्य हो तो आकाश में टिमटिमाते तारों को बुझवा दीजिये, पर आपके अंदर ही...''

उमाप्रज्ञा भभक उठी, ''चुप रहो, तुम्हें किसने अधिकार दिया कि तुम मेरे सपने की व्याख्या करो.''

''आपने.''

''मैंने?''

''आप एक साल से मुझे ढूंढ रही हैं.''

''तुम्हें यह जगह छोड़नी होगी.''

ग्रामीण हंस पड़ा, बोला, ''छोड़ दूंगा, पर आप मुझसे नहीं, आकाश में दीखने वाले 'मुझ' से डरती हैं.''

''मैं तुम्हें नेस्तनाबूद कर दूंगी.''

''अच्छा है, मैं तब एक ही जगह रह जाऊंगा.''

''तुम्हें घमंड है, औरों की तरह 'ब्लैक होल' तुम्हें लील नहीं पाया.''

''घमंड नहीं, पुरुष होने का बोध. विवेकशील पुरुष. जो लेना भी जानता है और छोड़ना भी. मुझमें आत्मविश्वास बढ़ा है.

''जिसे तुम आत्मविश्वास कहते हो वह तुम्हारे अपने चारों तरफ बनाया 'ब्लैक होल' नहीं है.''

''पर वह मेरी सुरक्षा है और मुझे सुरक्षा की सख्त जरूरत है.''

उसी समय क्रोध के [illegible] में रानी उमाप्रज्ञा ने पीछे मुड़कर पति की ओर देखा है तो पाया है कि राजा नहीं है, रथ भी नहीं है, अंगरक्षक भी नही है और आकाश में चारों तरफ से काला बवंडर उठ रहा है. प्रकृति के सब स्थायी मूल्यों को कंपाता हुआ.

उसने देखा, वह ग्रामीण अब भी खड़ा मुस्करा रहा है. उसे यह भी ध्यान आया कि आवेश में वह उस ग्रामीण के बहुत पास खिसक गयी है.

धीरे-धीरे उसने पीछे हटना शुरू किया है. □

● 85 .शिवा खंड, विश्वकर्मानगर, शाहदरा. दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ति युद्ध

रॉबिन शॉ पुष्प

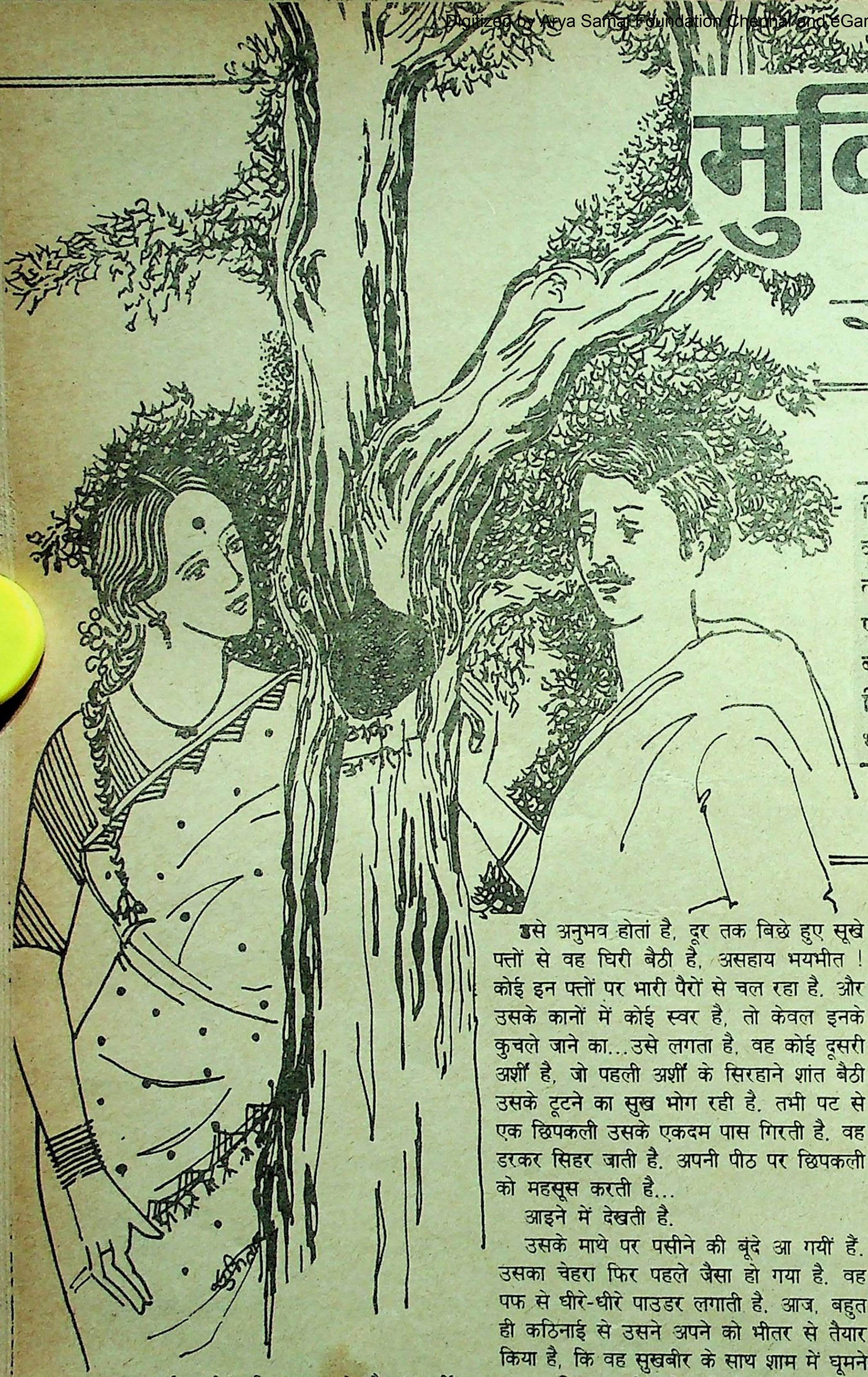

बिहार में लघु फिल्मों के प्रणेता तथा कई फीचर फिल्मों के लिए संवाद लेखक के रूप में ख्यात रॉबिन शॉ पुष्प नारी मनो-विज्ञान को आधार बनाकर कहानियां और उपन्यास लिखते रहे हैं. प्रस्तुत है इसी आधार भूमि की एक भाव-प्रवण कहानी---

अभी-अभी सबि कह गयी है, "अर्शी, तुम्हें ड्रॉप नहीं करना चाहिए था. जब बर्निंग-बेल पड़ जाती है, तो कॉपी उलटने से पूरे हॉल में सिर्फ पन्नों की सरसराहट तैरती रहती है. मैं तो आंखें बंद कर इस स्वर को भोगती हूं. लगता है, यह आवाज हमारी उड़ान से पैदा हो रही है. सारा आकाश हमारा है. और हम आकाश का कोई उपयोग कर रहे हैं..."

लेकिन अर्शी चुप बैठी है!

इसे अनुभव होता है, दूर तक बिछे हुए सूखे पत्तों से वह घिरी बैठी है, असहाय भयभीत! कोई इन पत्तों पर भारी पैरों से चल रहा है. और उसके कानों में कोई स्वर है, तो केवल इनके कुचले जाने का... उसे लगता है, वह कोई दूसरी अर्शी है, जो पहली अर्शी के सिरहाने शांत बैठी उसके टूटने का सुख भोग रही है. तभी पट से एक छिपकली उसके एकदम पास गिरती है. वह डरकर सिहर जाती है. अपनी पीठ पर छिपकली को महसूस करती है...

आइने में देखती है.

उसके माथे पर पसीने की बूंदें आ गयीं हैं. उसका चेहरा फिर पहले जैसा हो गया है. वह पफ से धीरे-धीरे पाउडर लगाती है. आज, बहुत ही कठिनाई से उसने अपने को भीतर से तैयार किया है, कि वह सुखबीर के साथ शाम में घूमने जाए. यदि आज भी नहीं गयी तो...उसका जिस्म एक बार फिर सिहर जाता है, जैसे पीठ पर कोई छिपकली गिरी हो.

उसे ख्याल आता है, कई बार सुखबीर ने कहा है, "व्यक्तिगत तौर पर मैं यही चाहता था अर्शी, कि तुम एम. ए. कर लो, फिर हमारी शादी हो. मगर तुम लोगों की ओर से इतनी शीघ्रता हुइ...खैर, अब केवल परीक्षा-भर देनी है और तुम ड्रॉप की बात सोच रही हो!"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया था.

सुखबीर ने ही कहा था, "तुम यहां पढ़ रही थी, इसीलिए मैंने अपनी बदली यहां करवा ली. इस शहर में तुमने दो वर्ष गुजारे हैं न!..."

और अर्शी को विवाह के बाद की दो रातें याद आती हैं. पहली रात उसने एक विचित्र स्वप्न देखा था. वह चलती जा रही है. सिर्फ रास्ता ही रास्ता. चलते-चलते उसके पैर दुखने लगते हैं. प्यास से कंठ सूखने लगता है. फिर भी वह चलती रहती है. सारा शरीर ऐंठने लगता है. तभी उसे पहाड़ी पर एक मंदिर दिखलाई पड़ता है. वह दौड़ने का प्रयास करती है. मंदिर के निकट पहुंचते ही पेट में भयंकर पीड़ा शुरू हो जाती है. वह छटपटाती है. मृत्यु-क्षण भोगती है. परंतु मंदिर का द्वार बंद रहता है. वह चीखती है...और उसकी आंखें खुल जाती हैं. देखती है, सुखबीर सो रहा है. पसीने से भीगी हुई, वह अनुभव करती है, अभी-अभी कोई छिपकली उसकी पीठ पर थी...

दूसरा सपना -वह नदी के किनारे बैठी है. पानी के संगीत को सुनती रहती है. जल-सुख. तभी कोई पीछे से उठाकर उसे नदी में फेंक देता है. वह उसका चेहरा भी नहीं देख पाती. डूबने लगती है भीतर...और भीतर...उसका दम घुटने लगता है. वह छटपटाने लगती है. असहाय-सी इधर-उधर हाथ मारती है, कि कोई चीज उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथ आ जाती है. वह देखती है, छिपकली का एक लिजलिजा बच्चा...उसे फेंक कर भय से चीखती है.

उसकी चीख से सुखबीर जग गया था. वह उससे सटकर लेट गयी. सुखबीर ने सुनकर कहा था, ''इसलिए कहता हूं अर्शी, शाम में थोड़ा घूमने निकला करो. कमरे में अपने को घेरकर, तुमने मन पर एक मनोवैज्ञानिक भय लाद लिया है. बंद दीवारों की घुटन, नींद में भी तुम्हारा पीछा करती है...''

फड़फड़ाहट से अर्शी चौंक जाती है. एक कीड़े को छिपकली मुंह में दबाये हुए है. वह अपने पंख आगे-पीछे फेंक रहा है. अर्शी अनुभव करती है, यह छटपटाहट मुक्ति के लिए है. मुक्ति-युद्ध. वह देखती रहती है...यह जानकर भी कि कीड़ा मुक्त नहीं हो पाएगा, फिर भी शायद ! और जब छिपकली कीड़े को निगल जाती है, वह अपने को फिर पसीने में भीगा हुआ पाती है.

हर शाम, यही कुछ होता है. साढ़े-चार के बाद ही, घड़ी की बड़ी सूई जैसे छिपकली बनकर धीरे-धीरे अर्शी की पीठ पर रेंगती है. पांच तक आते-आते अर्शी उस कीड़े की तरह मुक्ति-युद्ध करती है...और टन-टनकर जब पांच की घंटियां पड़ती हैं, उसे लगता है, समय की छिपकली ने उसे निगल लिया है. हर रोज यही होता है. सुखबीर आते ही, घूमने का प्रस्ताव रखता है. और वह भीतर ही भीतर छटपटाती है. मुक्ति-युद्ध करती है. किसी प्रकार साहस बटोरकर इंकार कर देती है. सुखबीर चुपचाप अपने कमरे में चला जाता है.

अर्शी उंगलियों पर गिनती है, विवाह को तीन महीने हो गये.

इन नब्बे—बिरानवे शामों में, वह एक भी शाम सुखबीर को नहीं दे सकी है. सुखबीर के प्रस्ताव को सुनने तक वह हर रोज कई-कई बार मरी है. मगर वह उसे बहुत चाहती है. बहुत. सुखबीर भी उसका कितना ख्याल रखता है. और जब से, उसे पता चला है कि वह मां बनने वाली है, वह कितना खुश है. बराबर यही चेष्टा करता है, कि अर्शी भी प्रसन्न रहे.

अभी पिछले सप्ताह वह कुछ कपड़े ले आया था. ''इन्हें अभी से सिलना शुरू कर दो अर्शी...'' वह सिर्फ कपड़ों को देखती रही थी, एकटक. उसी रात, उसने स्वप्न देखा. वह कपड़े सी रही है, सीती जा रही है...और जब सिलाई पूरी हो गयी तो उसने देखा, एक कफन सिलकर तैयार था. वह भय से चीखी थी.

सुखबीर ने सपने को सुना. कुछ सोचता रहा. फिर उसने अपराधी की तरह सिर झुका लिया, ''मैं जानता हूं अर्शी, ये सपने तुम्हें क्यों आते हैं...तुम्हें अभी, इतनी कम उम्र में मां नहीं बनना था, और मैंने बना दिया. यही मां बनने का भय तुम्हारे पीछे है...मगर मैं अपना यह पहला बच्चा चाहूंगा.''

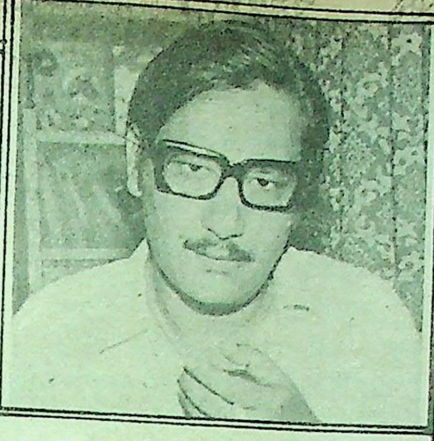

रॉबिन शॉ पुष्प

अर्शी की आंखों में आंसू थे. सुखबीर ने कहा था, ''तुमने अपने को मुझसे काटकर, एक अकेली और असहाय औरत बना लिया है...जिसके पास एक भी शाम नहीं कि मुझे दे सके. परंतु मैं, जब भी हारा-थका ऑफिस की कुर्सी छोड़ता हूं तो यह सोचकर, कि तुम मुझे आज क्षमा कर दोगी...लेकिन मेरे सोचने पर सिर्फ तहें पड़ती रही हैं.''

अर्शी के सामने सुखबीर का टूटा-हारा चेहरा उभर आया. वह आइने के सामने से उठकर मेज के समीप आ जाती है. इस्तरी का प्लग लगा कर सुखबीर की आलमारी खोलती है.

भीतर उसकी वही तस्वीर है, जो पसंद करने के लिए सुखबीर के पास बहुत पहले कभी भेजी गयी थी. वह उसे देखती रहती है...और जब सुखबीर के कपड़े निकालती है, तो उसे लगता है, उसने गलती से किसी और पुरुष की आलमारी खोल ली है. उसे अपनी ही तस्वीर की आंखों से भय लगने लगता है. शरीर में एक सिहरन पैदा हो जाती है. वह शीघ्रता से आलमारी बंद कर देती है.

इस्तरी करते समय भी उसका हाथ कांपता रहता है. उसे लगता है, अभी-अभी सुखबीर की पत्नी आ जायेगी. उसके हाथ से कमीज छीन लेगी...यही भय उसे भोजन परोसते समय भी रहता. जब पहली रात, वह सुखबीर के साथ एक खाट पर लेटी थी, तब भी यह भय बना हुआ था...

इस्तरी कर उसने कमीज टांग दी. हैंगर में लटकी कमीज. फिर उसने अनुभव किया, कमीज में एक जिस्म...हैंगर पर लटका हुआ एक शरीर...वह जल्दी से किचिन में आ जाती है. गटागट दो ग्लास पानी पीती है. अब भी उसका शरीर कांप रहा है. घड़ी देखती है. बड़ी सूई उसे पीठ पर महसूस होती है...छिपकली के सरकने का वही लिजलिजा अहसास !

सुखबीर उसे कितना मानता है, वह सोचती है. उसने घड़ी दी थी, कि वह कलाई में बांधकर प्रतीक्षा करे...और जब पहली बार उसने घड़ी बांधी, उसे लगा, जैसे बड़ी सूई उसकी पीठ पर रेंग रही है. उसने घड़ी खोलकर रख दी. सुखबीर को बुरा मानना चाहिए था. मगर उसने कहा था, ''घड़ी बांधकर, यदि तुम्हें यह बोध होता है अर्शी, कि तुम मेरे वक्त से बंध गयी हो...तो इसका न बांधना ही शुभ है.''

वह एकटक सुखबीर को देखती रही थी. सुखबीर कितना बड़ा है, और वह कितनी छोटी ! छोटेपन का बोध होने ही उसे और भय लगने लगा था...

किचिन में ही वह अनुभव कर लेती है कि सुखबीर आ गया है. वह केतली चढ़ा, प्याली में चीनी डालती है. और जब, सुखबीर की तरफ चाय की प्याली बढ़ाती है, तो उसका हाथ कांपता रहता है. वह यहां तक हिलता है, कि चूड़ियां एक स्वर में बजती हैं...

और यह पहली शाम है, जब वह सुखबीर के साथ चल रही है. आहिस्ता-आहिस्ता. महसूस करती है, सुखबीर बहुत खुश है. वह चाहती है, वह भी अपनी उदासी को हमेशा के लिए उतारकर रख दे और आनेवाली हर शाम सुखबीर के नाम कर दे...

सुखबीर एक-एक चीज दिखाकर उससे पूछता है. वह एक-एक प्रश्न का उत्तर देती है. दोनों चलते रहते हैं. सुखबीर इतना निकट है कि वह उसके स्पर्श को अनुभव करती है. किले की ऊंची दीवार. ढेर सारे लिखे हुए नाम. सुखबीर रुक जाता है. ''ये क्या है अर्शी?''

सुखबीर के इस छोटे से वाक्य से, अर्शी एकदम भयभीत हो जाती है. उसकी आवाज कांपती है, ''सुख, कहते हैं इस दीवार पर साथ-साथ नाम लिखनेवाले कभी अलग नहीं होते...''

सुखबीर नीचे गिरे पत्थर के एक नुकीले टुकड़े को उठा लेता है. अर्शी इस बार आगे आ जाती है. दीवार से पीठ सटाकर खड़ी हो जाती है. अपना नाम लिखकर, सुखबीर उसे पत्थर थमा देता है. उसकी उंगलियां कांपती हैं. वह जानती है, सुखबीर के नाम के नीचे उसे अपना नाम लिखना है. उसका हाथ बुरी तरह हिलता है. पैर थरथराते हैं. किसी प्रकार, दीवार से उसी तरह सटी-सटी, हाथ को कुछ मोड़कर, वह अपने नाम का पहला अक्षर बड़ी कठिनाई से लिख पाती है...धीरे-धीरे पीठ घिसती जाती है, कि उसके नाम के साथ बहुत पहले लिखा हुआ एक और नाम मिट जाए...और जैसे-जैसे उसका नाम पूरा होता जाता है, वह अनुभव करती है कि वह नाम जो पीठ के नीचे है, अब दीवार से आहिस्ता-आहिस्ता छिपकली की तरह रेंगकर उसके जिस्म पर उतर आया है—सामने, पेट की तरफ...जिसे सुखबीर अपना समझता है, अपना समझता रहेगा—'मैं अपना यह पहला बच्चा चाहूंगा'...वह भीतर ही भीतर मुक्ति के लिये छटपटाती है...मगर अब आखिरी सांस तक मुक्ति कहां ! बस, कुछ है तो केवल मुक्ति-युद्ध... ◘

● रवींद्रांगन, सब्जी बाग, पटना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन हिंदी कहानी का तीसरा पड़ाव

□ डॉ. कृष्ण दत्त पालीवाल

हिंदी कहानी के पिछले दौर में जो जमीन प्रेमचंद ने तोड़ी थी..... क्या अगली पीढ़ी उस जमीन पर सिलसिलेवार आगे बढ़ सकी..... ? ऐसा क्यों हुआ कि हमारे प्रतिनिधि कथाकार 'कहानीकार' कम और 'कलाकार' अधिक हो गये. अगली पीढ़ियों ने उन्हें अस्वीकार करने में क्या इसी वजह से कोई संकोच नहीं किया ! प्रस्तुत है समकालीन हिंदी कहानी के गंभीर अध्येता और चर्चित कथा—आलोचक डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल का एक विचारोत्तेजक आलेख—

हिंदी कहानी का यह दौर बाहरी विघटन और अंदरूनी तोड़-फोड़ के दृश्य लेकर आता है. सन् १९४७ ई. के बाद संस्कारगत मान्यताएं इतनी तेजी से बदली हैं कि एक रचनात्मक संकट रचनाकार के सामने उपस्थित हुआ है. गांधी की हत्या के बाद पनपने वाली राजनीतिक आर्थिक नीतियों ने समझदारों को भीतर से छील डाला. उनके घाव व्यक्ति एवं समाज में रिसते हुए साफ दिखाई दिये. कहानी की रचनाधर्मिता पर इस परिवेश का सीधा प्रभाव पड़ा. कहना चाहिए कि परिवेश ही कहानी में बदलने लगा. आदमी की आदर्शमूलक निष्ठाएं रातों-रात ढेर हो गयीं. स्थितियों का बयान करने वाले शब्द ओछे और टुच्चे लगने लगे. कहानी की संवेदनशीलता और स्वर में बेशुमार वक्तव्यबाजी कहानीकारों ने शुरू की. यह कमाल मोहन राकेश, उपेंद्रनाथ अश्क और कमलेश्वर से लेकर राजेंद्र यादव तक में खूबसूरत रचनात्मक मुहावरों के साथ फूट पड़ा. भावबोध का छायावादी-संस्कार निर्मल वर्मा में कई रंगों और ढंगों में जादू कर उठा, किंतु कहानी का यह दौर नये से नये कहानी प्रयोग करने पर भी ऐसी अंतर्दृष्टि नहीं प्रस्तुत कर पाया, जो आगे के कहानीकारों के लिए कोई दिशा बन जाती. मोहभंग का परिवेश ऐसी कहानियां ही दे पाया, जो अचानक नये झोंके के समान लगने पर भी ठगने में ही आगे रहीं.

देखा जाये तो हिंदी कहानी के पिछले दौर में जो जमीन प्रेमचंद ने तोड़ी थी और जो परती जमीन तोड़ी थी, उसमें नयी सृजनात्मकता की संभावनाएं थीं, किंतु हम उस जमीन को पाकर भी चूक गये. 'पूस की रात' और 'कफन' कहानी का भीतर तक हिला देने वाला यथार्थ और उसका सिलसिला नहीं चल पाया. प्रेमचंद को जैनेंद्र और निर्मल वर्मा ने अपने-अपने ढंग से खूब छला और व्यक्तिवादी पीड़ा की चादर में लपेटकर कहानी का मन और शरीर छिपा दिया. जैनेंद्र और निर्मल वर्मा कहानी में कहानीकार कम 'कलाकार' अधिक बन गये. इन कहानीकारों ने और इनके ही तरह के कहानीकारों ने हर समय याद रखा कि वे रचनाकार हैं, मानव मनोविज्ञान के ज्ञाता हैं, पूर्व-पश्चिम के धुरंधर ज्ञाता हैं, यह हैं, वह हैं—बस, एक नयी टेकनीक के नाम पर एक नयी कहानी का वाद जड़ पकड़ने लगा. वस्तु तत्व से ज्यादा रूपतत्त्व की इस कौशलपूर्ण कलाबाजी ने 'तत्सत', 'लाल सरोवर', 'राजीव की भाभी', 'पत्नी', 'रत्न प्रभा' और 'नीलमदेश की राजकन्या' का रूपधारण किया तो कभी वह 'रिश्ते', 'डायरी का खेल', 'सितंबर की एक शाम', 'मायादर्पण', 'लवर्स', 'परिंदे', 'पराये शहर में', 'पिता और प्रेमी', 'माया का मर्म', 'जलती झाड़ी', 'कमरे' और 'इतनी बड़ी आकांक्षा' बन सामने आयी. कहानी का समाजशास्त्र टेकनीक के रूपवाद में औंधा होकर गिर पड़ा.

अज्ञेय, अमरकांत, ज्ञानरंजन, अमृतराय, अश्क, कमलेश्वर, काशीनाथ सिंह, कृष्णा सोबती, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, फणीश्वरनाथ रेणु, यशपाल, कृष्ण बलदेव वैद और विष्णु प्रभाकर आदि कहानीकारों की 'प्रवृत्तियां' खोजने की कोशिश कठिन ही नहीं, अटपटी भी लगती है. यहां एक बड़े बदलाव को हम महसूस तो कर सकते हैं, किंतु उसे निश्चित प्रवृत्तियों में बांधकर अपनी बात नहीं कह सकते. इनमें देश और काल का फैलाव अधिक है. देश से ज्यादा काल उभरता है और उसमें मूल्यहीनता की स्थिति का एकांत डेरा है. यशपाल, कमलेश्वर, अमरकांत यहां कबीर की तरह सोचने-समझने में बेचैन हैं., राकेश और कमलेश्वर अंधेरे कमरों में टूट रहे हैं और निर्मल वर्मा तथा धर्मवीर भारती एक काव्यात्मक दुनिया में बदले हुए हैं, खुश हैं. इसीलिए हर चीज यहां गड़ड-मड्ड उलझी हुई है. परिवर्तन भी ऐसा है कि राजनैतिक-सांस्कृतिक रूपांतरण की प्रक्रिया एक अजीब ढंग से घटित हो रही है. सांस्कृतिक सामाजिक आजादी के लिए इस दौर में भैरवप्रसाद गुप्त 'खलनायक' बने रहे हैं. भीष्म साहनी टूटते समाज के कीचड़ में 'चीफ की दावत' का दर्द दे रहे हैं. एक पूरा समाज भीष्म साहनी के 'अपने अपने बच्चे' 'बीबर', 'खून का रिश्ता', 'बात की बात', 'पास-फेल', 'माता-विमाता', 'सिर का सर का', 'सिफारशी चिट्ठी', 'यादें' और 'कुछ और साल' में बिजली की कौंध की तरह आंखों के सामने आ जाता है.

सन् १९४७ की राजनैतिक आजादी के बाद जो सपने थे, वे खिले कम जले अधिक. एक विशाल जन समूह अपनी आंखों में अपने ही सपने जीने लगा. राह से भटकते देश और आदमी की इस हालत को १९५० से लेकर १९७० तक की हिंदी कहानी खुलकर बयान करती है. गहरे असंतोष ने एक प्रकार के अजनबीपन, बेगानेपन, परायेपन, अमानवीकरण और विद्रूपता की स्थितियों को जन्म दिया. यह अलगाव और अजनबीपन हिंदी कहानीकार ने अस्तित्ववाद पढ़कर नहीं पैदा किया, जैसा कि बहुत से विद्वान मानते हैं. सच्चाई यह है कि यह सब हमारी भीतरी स्थितियों से पैदा हुआ था. अपने चेहरे के इस कोढ़ को हम अपने भीतर की बीमारी न मानकर दूसरे देशों की दी हुई बीमारी मानते रहे, यही हमारी भूल थी. सृजनशील मन के इस सामाजिक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस्कृतिक संकट को कारण-कार्य से समझना चाहिए. यही हमारी बुद्धि की खिड़की खोल सकता है, लेकिन हमें सोचना होगा कि आखिरकार यशपाल 'मक्रील' और 'खच्चर और आदमी', रघुवीर सहाय 'मुठभेड़,' 'तीन मिनट', 'मेरे और नंगी औरत के बीच', 'रवींद्र कालिया 'बड़े शहर का आदमी', 'त्रास', 'एक प्रामाणिक झूठ', रांघेय राघव 'गदल', लक्ष्मीनारायण लाल 'थाना बेलूरगंज', अज्ञेय 'जयदोल', 'ये तेरे प्रतिरूप', अमरकांत 'जिंदगी और जोंक' शिवप्रसाद सिंह 'हत्या और आत्महत्या', अमृतराय 'इतिहास', 'लालधरती' 'कठघरे', विष्णु प्रभाकर 'धरती अब भी घूम रही हैं', श्रवणकुमार 'मैं और वह', रामकुमार 'रिश्तेदारी,' 'प्रश्नचिन्ह', हृदयेश 'परदे की दीवार', 'दूसरा गवाह', श्रीकांत वर्मा 'शवयात्रा' 'कैद', 'घर', 'छाया', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'लपटें', शेखर जोशी 'कासी का घटवार', 'मृत्यु', 'रास्ते', 'बदबू', कृष्णा सोबती 'मित्रो मरजानी', कमलेश्वर 'मांस का दरिया', गजानन माधव मुक्तिबोध 'काठ का सपना', गिरिराजकिशोर 'चार मोती बेआब', भैरवप्रसाद गुप्त 'सपने का अंत', मन्नू भंडारी 'यही सच है', 'मैं हार गयी', मार्कंडेय 'पान फूल', 'हंसा जाई अकेला', 'पत्थर की परछाइयां' मोहन राकेश 'इंसान के खंडहर', 'नये बादल,' 'जानवर और जानवर', 'एक और जिंदगी', 'फौलाद का आकाश', राजेंद्र यादव 'देवताओं की मूर्तियां', 'खेल खिलौने', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'टूटना', 'अभिमन्यु की आत्महत्या' और प्रयाग शुक्ल 'आक्रोश', 'नीली रेखाएं', 'कड़ियां' आदि के कहानी संसार में कैसे प्रवेश कर गये. बहुत से नाम और हैं, जिन्हें कहां तक गिनाया जाये. केवल इतनी बात यहां यह है कि समाज जिस ध्रुवहीनता में घूम रहा था, कहानी उसी में भटक रही थी. समय ने सांस्कृतिक-सामाजिक मान्यताओं की चूल-चूल खोल दी थी और एक नवीन मूल्यांधता से भरी मानसिकता को जन्म दिया था. इसीलिए इन कहानीकारों की मूल्य-मानदृष्टि पिछली दो पीढ़ियों के कहानीकारों से एकदम भिन्न थी. अनुभव ही नहीं, वैचारिक अराजकता और सैद्धांतिक अस्थिरता भी कुछ ज्यादा ही थी. इसी स्थिति में इस तीसरी पीढ़ी के कहानीकारों को बौद्धिक-वैचारिक संक्रांति में धकेलने का काम उजड़ते मूल्यों ने किया. इनकी आधुनिकता एक ऐसी ओढ़ी हुई घटिया खाल थी, जो सिलसिलेवार ढंग से सृजनात्मक का संहार कर रही थी. गांव से ज्यादा शहरीकरण का दानव पेल उठा था और समस्याएं जटिल गठरी बनकर सिर पर बैठ गयी थीं. फणीश्वरनाथ रेणु की 'ठुमरी' ठसक खो बैठी थी और 'जिंदगी और जोंक' समय का सत्य थी.

विकसित और विकासशील देशों की नकल के पीछे पागल 'पिछड़ा हुआ देश' रपट-रपटकर ,गिर रहा था. पश्चिम की हर-अदा, हर बात, हर आवाज माननेवाले लोग और भारतीय गांवों की उदासी से बेचैन लोग एक-दूसरे की तरफ पीठ करके खड़े हो गये थे. भारतीय रचनाकार विकल्पों के द्वंद्व में पिसने लगा. बुद्धिजीवी और लेखक अपने को लाचार, असहाय और व्यर्थता बोध में पाकर अपने हर कार्य को विसंगत मान उठा. एक पीढ़ी दरअसल इस कालखंड में देशी-विदेशी परंपरा और प्रयोग के द्वंद्व में छटपटाने के लिए मजबूर हो गयी. सामने के यथार्थ को लिखने की कोशिश में यह तीसरी पीढ़ी भन्नाये दिमाग से अपनी अस्मिता की तलाश में निकल पड़ी और दुर्भाग्य यह हुआ कि फिर अपने घर वापस नहीं आ सकी. इसलिए इनके बाद की पीढ़ी के कथाकारों को उन चुनौतियों और समस्याओं से जूझना पड़ा, जो काफी समय से सिर उठाये खड़ी थीं. रमेश उपाध्याय, कामतानाथ, दूधनाथ सिंह, प्रयाग शुक्ल, धीरेंद्र अस्थाना, बलराम और उदय प्रकाश की पीढ़ी को यह सब आज झेलना पड़ रहा है. नये रचनाकार नारी-नर संबंधों में न उलझ कर अपने परिवेश की तीखी कड़वाहट को रचना में उतार रहे हैं, जिसे तीसरी पीढ़ी के रचनाकारों ने महत्वपूर्ण मानकर भी टाल दिया था. राजनीतिक सड़ांध, छीना-झपटी की संस्कृति, कुर्सी और अवसरवादिता पर आज की कहानी को ही बहुत कुछ अपनी तरह से अभिव्यक्त करना पड़ा. सचेतन कहानी अपनी चेतना के सीमांतों पर ही बलिदान हो गयी. इसलिए 70 के बाद के नये कहानिकारों को यथार्थ के लिए नया संघर्ष करना पड़ा, कहने का नया रूप खोजना पड़ा.

तीसरी पीढ़ी स्त्री-पुरुष संबंध की पड़ताल करते-करते कहानी के लिए इस क्षेत्र में अमरबेल बन गयी, जिसने उसका पूरा खून चूस डाला. इनके लिए औरत एक भोगने के लिए बना जिस्म है और कुछ नहीं है. इन दैहिक संबंधों को निर्मल वर्मा के 'वे दिन' और राजकमल चौधरी की

डॉ. कृष्ण दत्त पालीवाल

सेक्स प्रधान कहानियों में देखा जा सकता है. दूधनाथ सिंह की कहानियां 'रक्तपात', 'सपाट चेहरेवाला आदमी' और 'रीछ' में सेक्स को उसके आतंक के साथ ला सकीं. रवींद्र कालिया की कहानी 'पत्नी', गिरिराज किशोर की 'यात्राएं', काशीनाथ सिंह की 'संकट' इसी सेक्स जाल में लिपटी हैं. महिला कहानीकार मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया की शुरू की कुछ कहानियों में मौन देह की फुलझड़ियां हैं. महिला कहानीकारों में सेक्स पर खुलकर लिखने की संस्कारगत हिम्मत नहीं थी, जिसे बाद की महिला कहानीकारों ने बोल्डनेस के साथ तोड़ा है. इस क्षेत्र को इतना तोड़ा है कि साहस के चक्कर में अब बात दुस्साहसतक पहुंच रही है. भगवान रजनीश का काम जादू हिंदी कहानी में काम रंग नहीं लाया है. काम में ही राम है, आराम है, रंग है, रोशनी है, मुक्ति है, स्वतंत्रता है, व्यक्तित्व का विकास है, यह सब मजेदार ढंग से किया गया है. अधिकांश कहानीकारों की कल्पना के कौवे सेक्स की ही तलाश में मंडराते रहे हैं. सेक्स के अनुभव को प्रकृतभावभूमि के रूप में न लिखकर बहुत से कहानीकारों ने 'कहानी के रीतिकाल' के रूप में लिखा है. इसलिए इस सेक्स लेखन में सर्जनात्मकता कम अतृप्तियों की अकुलाहट और कल्लाहट ही अधिक मिलती है.

एक दिलचस्प बात यह भी हुई कि कहानीकार शहरी जिंदगी के साथ लेखन में जुट गया. आजादी के बाद ज्यादातर लोग नौकरी-चाकरी के चक्कर में शहर आये और शहर उन्हें अपना नहीं बना पाया. उनकी कहानियों में गांव खूबसूरत सपना बनकर छाया रहा और शहर की चमक-दमक ने उन्हें भीतर से तोड़ दिया. न घर के रहे, न घाट के तो भटकन, अकेलापन, ऊब, त्रास के चक्कर में पड़ गये. आंचलिकता इन कहानीकारों में हाशिये पर छूट गयी और श्रीकांत वर्मा की 'कैद' जैसी कहानियां दफ्तरी नरक का सही संदर्भ पेश कर उठीं. कृष्णा सोबती ने 'यारों के यार' में क्लर्कों के जीवन की कड़ुवाहट को उजागर किया तो गोविंद मिश्र ने 'वह अपना चेहरा' में स्त्री क्लर्क की व्यथा-कथा कह डाली. दूधनाथ सिंह ने दफ्तरी जीवन की गंदगी को 'प्रतिशोध' में खोलकर रख दिया. धर्मवीर भारती ने 'बंद गली का आखिरी मकान' में मुंशीगाथा लिख दी. फिर भी इस दौर का कोई भी कहानीकार शहर का नरक पूरी तरह पेश नहीं कर पाया. एक तनावहीन सर्जनात्मकता में इनकी तमाम कहानियां गुजरकर थम गयीं. उनमें शहर तीखी विषमता और भारी मारधाड़ के साथ संदर्भित अर्थ नहीं पा सका. कुछ नासमझ आलोचकों ने कहानियों में गांव और शहर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभाजन कर डाला और शहरी-बोध की कहानियों का एक अलग खाता खोल दिया. वस्तुत : यह विभाजन सतही, अतार्किक और अप्रासंगिक है. इतना ही नहीं, इन शहरीबोध की या महानगरीबोध की कहानियों पर शोध प्रबंध उछल पड़े और एक महत्वहीन मसला महत्वपूर्ण बना दिया गया. इस तरह के गांव और शहर के विभाजन ने समग्रता में कहानी को समझने का अवसर ही नहीं दिया. उसका भाव-जगत सिमट गया और उसे यथार्थ से सीधे साक्षात्कार करने में अक्षम बना दिया. रचनाकार और आलोचक की इस फार्मूलाबद्ध, चालाक और चिंतन भरी दृष्टि ने दूसरों को खूब गुमराह किये रखा है.

कहानियों के इस दौर में अज्ञेय एवं इलाचंद्र जोशी ने विशुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की कहानियों की रचना की. अज्ञेय की कहानियों में रचना प्रक्रिया के स्तर पर मानव मन की प्रकृत दशा के दर्शन हुए. इन कहानियों ने पात्र और परिवेश को नये ढंग से परिभाषित किया तथा प्रेम और संघर्ष के द्वंद्व से रचनात्मकता को मुकम्मल बनाया. अज्ञेय ने 'पठार का धीरज', 'पुरुष का भाग्य', 'सांप' और 'कोठरी की बात' जैसी कहानियों में मानव मन की जटिल तहों को खोलने का प्रयास तो किया ही, उन्हें आत्मकथात्मक , पत्रात्मक एवं नाटकीय शैलियों के प्रयोग से सहज कलात्मकता में गूंथ भी दिया, पर अज्ञेय जितनी बारीक पकड़ इलाचंद्र जोशी नहीं ला सके. कहानी की सृजन-प्रक्रिया में मनोविश्लेषणशास्त्र के पंडित बनके रह गये और इसी ने उनकी कहानी की भीतरी आंच को बुझा दिया. रचनात्मक को सैद्धांतिकता कैसे चाट जाती है, इलाचंद्र जोशी की कहानियां इसका सही प्रमाण पेश करती हैं.

उपेंद्रनाथ अश्क, कमलेश्वर, मार्कंडेय, शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, शिवप्रसाद सिंह, काशीनाथ सिंह, रवींद्र कालिया आदि में कहानी उनके जीवन के अनुभवों के बीच से उगती रही. इसलिए उसे खुराक की कमी नहीं पड़ी. अश्क की कहानी कला अपने सभी सहयात्रियों से मेल खाकर भी भिन्न व्यक्तित्व बनाये रही. शिल्प और कथा के प्रति जिस तरह की अन्विति का परिचय अश्क ने दिया, वह इस दौर का एक रंगीन हाशिया है. इनके लेखन की समस्या या तो नये संदर्भों की खोज रही है या नयी दिशाओं की तलाश !

मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव की कहानियां सृजन-प्रक्रिया में देश और काल में गतिशील रही हैं. राकेश ने 'जानवर और जानवर' में कहानी की सृजन-प्रक्रिया के नये धरातल दिये, जिनमें संवेदना का गाढ़ा सारतत्व निहित है. कमलेश्वर की कहानियों में वह जाना-पहचाना आदमी है, जो कस्बे से शहर में आकर भटकन और अकेलापन पाता है और इस अनुभव में लेखक पूरी प्रामाणिकता लाता है. राजेंद्र यादव ने कहानी के बारे में इतना सोचा है कि उनका संवेदनात्मक ज्ञान पाठक को काफी आत्मीय लगता है. बदलते संबधों और मूल्यों की बात राजेंद्र यादव ने काफी ठीक ढंग से संकेतित की है, पर राजेंद्र यादव रोमांटिक प्रतीक 'छोटे-छोटे ताजमहल' जैसे पकड़ते हैं तो उनकी रचनात्मकता में पोलापन जगह बना लेता है. फिर भी नयी कहानी ने राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और राकेश के प्रयोगों से काफी कुछ प्रासंगिक पाया है.

इस दौर में लंबी कविताओं की भांति लंबी कहानियों का भी फैशन चल पड़ा है. हर लंबी कहानी अपनी संरचना में एक छोटा उपन्यास छिपाकर लिखी गयी है. इसका एक कारण यह भी रहा है कि बड़े अनुभवों को कहानीकार अनुभूति की सघनता में संकेतों-प्रतीकों बिंबों से कह देना चाहता है. कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' रेणु की 'तीसरी कसम', अमरकांत की 'जिंदगी और जोंक', रांगेय राघव की 'गदल', निर्मल वर्मा की 'परिंदे', धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो', राजकमल चौधरी की 'दाम्पत्य' आदि इस दौर की ऐसी ही लंबी कहानियां हैं. इन लंबी कहानियों का इतना जोर बढ़ा है कि रमेश उपाध्याय जैसे कहानीकार तो छोटी कहानी लिखने से ही कन्नी काट गये. बड़ी बात को बड़ी कहानियों में कहना ही उन्हें अधिक सुविधाजनक लगा है, लेकिन धीरे-धीरे लंबी कविताओं की भांति लंबी कहानी के प्रति भी एक अभ्यस्त रूढ़ि बन गयी कि इस लंबायमान कला में कुछ विशेष नहीं है. कहानी अपने मूल में ही लंबे आकार की विरोधी विधा है. वह संकेत है, एक हिचकी है, एक झोंका है, एक झरोखा है, एक घुड़दौड़ है, जिसकी तेजी की कौंध ही बहुत कुछ है. वह मन:स्थितियों-स्थितियों आदि का वर्णन बर्दाश्त ही नहीं कर पाती. वह वर्णन का लॉजिक नहीं है, तर्क की अन्विति है, रेणु की 'तीसरी कसम' या निर्मल वर्मा की 'परिंदे' आकार में बड़ी हैं और कहानी से ज्यादा कविता हैं. संगीत की लय और काव्यात्मकता में डूबी इन कहानियों में आधुनिकबोध की तड़प नहीं है, एक मादक नशा है, जो हमें घेरे रहता है. कहना न होगा कि इन कहानियों का छद्म छायावादी संस्कार हमें लुभाता तो है पर सोचने-विचारने को कुछ नहीं छोड़ता. अमरकांत की लंबी कहानी 'जिंदगी और जोंक' एक अलग कोण की कहानी है. इसमें गोपाल राम भिखमंगे की कथा है. यह कहानी मानव दर्द की जमीन से उपजी है, कहानी के अंत का यह भाग हमें सोचने को विवश करता है कि 'उसके मुख पर मौत की भीषण छाया नाच रही थी और वह जिंदगी से जोंक की तरह चिपका था, लेकिन जोंक वह था या जिंदगी? वह जिंदगी का खून चूस रहा था या जिंदगी उसका? मैं तय न कर पाया.' जीवन की समस्याओं, प्रश्नाकुलताओं के बीच से नाटकीयता कलात्मकता पैदा करती कहानी आधुनिक भावबोध के काफी नजदीक पड़ती है. दु:ख इस बात का होता है कि इस वजन की कहानियां अमरकांत तथा उनकी पीढ़ी के कहानीकार कम लिख पाये.

इस दौर में रघुवीर सहाय की कहानियां 'सेब', 'खेल' तथा 'लड़के', भीष्मसाहनी की कहानियां हिंदी की नयी कहानी का नयापन उजागर करती हैं. निर्मल वर्मा की कहानियों में 'लंदन की एक रात' एक ऐसी आधुनिक संवेदना का सफरनामा कही जा सकती है, जो अपनी कमजोरियों के बावजूद नयी कहानी का नया मुहावरा सामने लाती है. फासिस्ट खतरों से सावधान करती यह कहानी आजाद देशों की चेतना को संदर्भों में हेरती है. यहां तक आकर यह मुद्दा साफ हो उठता है कि संवेदनशील कलाकार जीवित प्रतीकों, बिंबों के माध्यम से जीवन को पकड़ता है. इसीलिए रचनाकार अनुभव को जैसा का, तैसा नहीं लिख देता. उसे अपने भीतर पचाकर फिर रचना में पुनर्सृजित करता है. जिन लेखकों ने चेखव, सार्त्र, कामू, काफ्का, टामस मान का पल्ला पकड़ा— वे भरोसे के कहानीकार नहीं बन सके, क्योंकि जिस यथार्थ से आपने साक्षात्कार नहीं किया, वह आपकी चेतना में आग बनकर नहीं दहक सकता. आग बनकर वही अनुभव रचनात्मकता को शक्ति दे सकता है, जो आपका अपना खरा अनुभव है. बिना यथार्थ अनुभव के सही कहानी पैदा नहीं हो पाती. हां, कविता कभी कभार जरूर पैदा हो जाती है. मोहभंग और टूटते मूल्यों का जो अनुभव अमरकांत, राजेंद्र यादव, कामतानाथ, ज्ञानरंजन और रघुवीर सहाय को भरोसे का बनाता है, कम मूल्यवान नहीं है. यहां अनुभव भाषा का रंगीन तिलस्म तोड़ देता है. एक ऐसी भाषा ईजाद होती है, जिसमें ह्यूमन क्राइसिस को सीधे व्यक्त किया जा सके. पश्चिमी मानसिकता के बीमार मुहावरे नयी कहानी के अनिवार्य हिस्से कभी नहीं बन सके और न इस पर अस्तित्ववाद का मलवा ही हर तरफ से गिरा है, लेकिन सन् ५०-६० के बीच की जो छटपटाहट तथा बेचैनी थी, उसने हिंदी की नयी कहानी को हिंदी कविता की तरह एकदम उखड़े समाज की सूरत में पेश किया और इस कालखंड में कविता ही केंद्र में रही. कथा-साहित्य आस-पास ही चक्कर काटता रहा, किंतु सन् ७० के बाद कविता अपनी केंद्रीय स्थिति खो बैठी और नये कहानीकारों ने उसे केंद्र से बाहर खड़ा कर दिया. धीरे-धीरे कहानी ही हमारी सशक्त विधा बनती गयी, यह बात आठवें दशक के कहानीकारों के रचना कर्म को पहचान कर दावे से कही जा सकती है.

छठे और सातवें दशक के कहानीकार कहानियों में अनुभूति-अनुभव और भाषा को रासायनिक घोल बनाकर प्रस्तुत नहीं कर सके. परिणामत: आठवें दशक के रचनाकारों ने उस पीढ़ी को अस्वीकृत करने में भी देर नहीं लगायी. □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar